शेष

दो ज़बानों की एक किताब

अप्रैल-जून, 2009



पेशकश : हसन जमाल

20/-

- फ़िज़ा इब्ने फ़ैज़ी
- यादवेंद्र शर्मा चन्द्र
- रामचंद्र तिवारी
- लवलीन
- सुदीप बैनर्जी
- एस. वासुदेव
- जबरनाथ पुरोहित

को

शेष की जानिब से ख़िराजे-अक़ीदत और श्रद्धांजलि

शेष

दो ज़बानों की एक किताब

एक तिमाही इंतिख़ाब-52

तर्जुमा व तर्तीब : ***हसन जमाल***

☛ पन्ना निवास (साइकिल मार्केट) के पास, लोहारपुरा, जोधपुर-342002 Mob.: 98293-14018

जिल्द : आठ **शुमारा - तीन** **अप्रैल-जून, 2009**

एक कॉपी : 20/- ✯ सालाना : 80/- + 20/- महसूल डाक ✯ पांच साल : 400/-

फ़ेहरिस्त

केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा से सहयोग प्राप्त

'शेष' उर्दू ज़बान के लिये उर्दू लिपि का हामी है. उर्दू के लिये देवनागरी की वकालत करने वाले उर्दू ज़बान के ख़ैरख़्वाह नहीं हैं. लिपियां ज़बानों पर थोपी नहीं जातीं. लिपियां ज़बानों की हमज़ाद होती हैं.

'शेष' के मालिक, पब्लिशर व एडिटर हसन जमाल के लिये, प्रिण्टर्स यशवन्त भण्डारी द्वारा भण्डारी ऑफसेट, जोधपुर के लिये हिन्दुस्तान प्रिण्टिंग प्रेस, जोधपुर से छपा और पन्ना निवास के सामने, लोहारपुरा, जोधपुर (राज.) से शाए' हुआ. लेज़र टाइपसेटिंग : सूर्या कम्प्यूटर, जोधपुर.

तीन सौ रुपये से कम के चैक क़बूल नहीं किये जाएंगे.
चैक/ड्राफ़्ट सिर्फ़ 'शेष प्रकाशन' या हसन जमाल के नाम से ही भेजे जाएं.

जुम्हूरीयत का नाटक

ये शुमारा मंज़रे-आम पर आएगा, तब तक इस 'अज़ीम' मुल्क में जुम्हूरीयत का नाटक शुरू हो चुका होगा. ख़ुदा का शुक्र है कि इस बार ये नाटक अपनी पूरी मुद्दत गुज़ार कर ज़ुहूरपिज़ीर होगा, वगरना हमारे यहां ऐसा दौर भी गुज़रा है जब दो, दो, तीन तीन साल से ये रस्म अदा की गयी.

'शेष' में उसूलन अदब और अदब से जुड़ी बातों का ही ज़िक्र होना चाहिए जैसा कि दीगर रिसाले करते हैं, लेकिन मेरी तवज्जोह उमूमन मुल्क और क़ौम के हालात पर रहती है, अदब पर कम. यों भी होश संभालने के बाद अपनी ज़िंदगी और दुनिया से मेरा ता'ल्लुक़ सतही-सा रहा है. मैं फ़ितरतन मायूस क़िस्म का शख़्स रहा हूं. इस कायनात का निज़ाम मेरी समझ से बालातर है. मैंने एक बेहतर दुनिया के अरमान के साथ होश संभाला था, मगर जो कुछ अब तक मुझे देखने को मिला, वो निहायत मायूसकुन था. जहां तक अदबी दुनिया का ता'ल्लुक़ है, वहां भी घटाटोप छाया हुआ है. सियासत की तरह वहां भी अदबी माफ़िया-ग्रुप हावी है, जो अपना व अपने लोगों का चर्चा करवाने, इन्आमो-इकराम हासिल करने और माली फ़ायदों के लिए जुगाड़ बैठाने में लगा हुआ है. ख़ास तौर से दिल्ली का अदबी माफ़िया इस क़दर सरगर्म है कि मुल्क के बाक़ी हिस्से ठंड पी गए हैं. ऐसा इसलिए भी है कि प्रिंट व इलेक्ट्रोनिक मीडिया की नज़र घूम-फिर कर उन्हीं-उन्हीं लोगों पर पड़ती है, जिनकी सूरतों व विचारों से हम बेज़ार हो चुके हैं. दरअस्ल सियासत की तरह अदब का भी दिल्लीकरण हो चुका है. अदब की जुम्हूरीयत के लिए उसे दिल्ली की किल्ली से निकालने की सख़्त ज़रूरत है. मवाद जब एक जगह ज़रूरत से ज़्यादा जमा हो जाता है तब वो सड़ांध मारने लगता है. राजेंद्र यादव अगर दिल्ली में न होते, तो किसी गोशे में पड़े अहदे-माज़ी को याद कर-करके आहें भर रहे होते. एक यादव पर ही क्या मौक़ूफ़, ऐसे सैंकड़ों नामधारी लोग हैं, जो दिल्ली की वजह से ही 'खली' बने हुए हैं.

ख़ैर! छोड़िए. अदब तो हाशिये की चीज़ बन चुका है. उसे पूछता कौन है! ख़ास तौर पर वो लोग तो नहीं ही पूछते जिनके गंदे और नापाक हाथों में हमारी ज़िंदगी जकड़ी हुई है. जो हमारी ही तस्दीक़ से हमारे सरों पर मुसल्लत हो जाते रहे हैं और बड़ी बेहयाई से सियासत का नंगा नाच दिखा रहे हैं. मैं इस मुल्क का बेज़रर शहरी ज़रूर हूं, मगर वोटर नहीं हूं. जो लोग अपनी उंगली पर दाग़ लगवा के और अपने काम-धाम छोड़ के, क़तारों में खड़े होकर सरकार चुनने की ख़ुशफ़हमी रखते हैं, मैं उस ख़ुशफ़हमी से दूर हूं.

ये एक ख़ामख़याली है कि आप एक सरकार चुनते हैं. जी नहीं, आप सिर्फ़ एक दाग़दार शख़्स के इंतिख़ाब के भागीदार होते हैं, बस.. इससे ज़्यादा जुम्हूरीयत के निज़ाम में

आपका कोई रोल नहीं होता. जो कुछ करना होता है, वो इन्हीं लोगों को करना है और अवाम की बेहिसी, बेवक़ूफ़ी और लाता'ल्लुक़ी से ये सब कर गुज़रते हैं. चाहे ये अपने घर भरें, चाहे अपने लोगों को हर तरह से नवाज़ें, चाहे मुल्क को बेच डालें, अवाम कुछ नहीं कर सकते, सिवा चार-पांच साल इंतिज़ार करने के, फिर नौटंकी में हिस्सा लेने के. ये खेल साठ बरसों से जारी है और अब तो पानी सर से ऊपर बहने लगा है.

एक आम ख़याल ये भी है कि हिंदुस्तान में बिना किसी ख़ून-ख़राबे के सरकारें बदल दी जाती हैं. अवाम की ये बड़ी और ख़ामोश फ़तह होती है. मगर इस फ़तह के मानी क्या हैं? इस पर कोई ग़ौर नहीं करता. वो ही वो ही लोग, वो ही वो ही हरकतें और तमाशे– 'होता है शबो-रोज़ तमाशा मिरे आगे.' क्या हिंदुस्तान के लोग सिर्फ़ तमाशबीन हैं? वोट दे-देकर सिर्फ़ सरकारें बदलने से आख़िर क्या होगा? जब तक इन चुने हुए लोगों, सफ़ेद व सियाह के मालिकों को अवाम का ख़ौफ़ नहीं होगा, तब तक ये शर्मनाक और अफ़सोसनाक सूरते-हाल बदलने वाली नहीं है. नाइन्साफ़ियों, बदउन्वानियों और सरकारी ज़ुल्मो-सितम के ख़िलाफ़ अवाम एकजुट नहीं होंगे, तब तक ये तमाम लोग अपने गंदे खेलों में मसरूफ़ रहेंगे. ऐसा भी नहीं है कि अवाम बेदार नहीं हो रहे हैं. वो हो रहे हैं, मगर छिटपुट. मुल्क के गोशे-गोशे में आए दिन होने वाले एहतिजाज व सरकारी अमले से झड़पें बता रही हैं कि सब्र का पैमाना लबरेज़ हो चुका है. इस विरोध व हस्तक्षेप को एक मुल्कगीर तहरीक की शक्ल देने की ज़रूरत है. मगर ऐसी तहरीकों का नतीजा उमूमन तोड़फोड़, ख़ूरेज़ी और लाक़ानूनीयत की शक्ल में उभर के आ जाता है. ये एक बड़ा मस्अला है. अपने हुक़ूक़ की लड़ाई के लिए अहिंसक रास्ता बेशक देर-पा और सब्र-आज़मा होता है, मगर वही एक रास्ता अम्नो-अमान को ख़याल में रखते हुए इख़्तियार करना होगा. सिर्फ़ वोट देने से काम नहीं चलेगा. 'हरदम जागते रहो' की मिसाल क़ायम करनी होगी. अपने-अपने मफ़ाद की ख़ातिर ख़ामोशी इख़्तियार करने से तो मुल्क की हालत बदलने वाली नहीं है. मुल्क की हालत बदलने के लिए और अपने जायज़ हक़ों के हुसूल के लिए अवाम को ख़ुद भी बदलना होगा. मुल्क और क़ौम के तईं अपने फ़राइज़ को भी पहचानना होगा. अपने वक़्त की क़ुर्बानी देना होगी. 'कोहू नर्प हमें का हानि' का दौर गुज़र गया. अब जुम्हूरीयत के नाटक में अवाम को अपने वुजूद का एहसास कराना होगा. एक अरब लोगों की क़िस्मत का फ़ैसला ये चंद हज़ार मतलबपरस्त, बदउन्वान-भ्रष्ट, अंधे और बहरे लीडराने-वतन नहीं कर सकते.

हालात बड़े पेचीदा हो चुके हैं. सरहदों पर ख़तरे मंडरा रहे हैं. पड़ोस में आग लगी हुई है, मगर मौजूदा लीडरों को न तारीख़ की ख़बर है, न आने वाले ख़तरों की ख़बर है. उन्हें यही नहीं मालूम कि कौन अपना दोस्त है, कौन अपना दुश्मन? इन लोगों की ग़लतियों का ख़म्याज़ा अवाम को हर हाल में भुगतना पड़ता है. ऐसा लगता है, तमाम ताक़तें सियासत और दौलत के शिकंजे में फंस गयी हैं. वोटों से सरकार किसी की बने, वो अवाम की ख़िदमत और बेहतर निज़ाम के लिए नहीं बनती. ये एक क़िस्म की ख़ुदमुख़्तारी है जिसे जुम्हूरीयत का जामा पहना दिया जाता है, जिस तरह एक पेशेवर औरत कोठे से उठ कर गृहस्थिन का ढोंग रचते हुए अपना कारोबार चलाती है. पेशेवर औरत में तो फिर भी कुछ

शर्मो-हया व ग़ैरत होती है, इन पेशेवर सियासतदानों में वो भी नहीं होती. आए दिन बड़ी कुर्सियों पर क़ाबिज़ होने के लिए कुत्तों की तरह लड़ते रहते हैं. अवाम की दौलत को किस बेदर्दी व बेरहमी से 'ख़र्च' करते हैं, उसकी मिसालें बताने की शायद ज़रूरत नहीं है. पार्लियामेंट अब गुरु-गंभीर बहस-मुबाहस की जगह नहीं रही, वहां जरायमपेशा लोग दनदनाते घूमते नज़र आते हैं और हमारे नामनिहाद रहनुमा स्कूल के बिगड़ैल बच्चों की तरह लड़ते-झगड़ते और हंगामा करते नज़र आते हैं. संजीदगी व बुर्दबारी का नामो-निशान तक नहीं बचा. ऐसा लगता ही नहीं कि ये बाहुबली मुल्क व क़ौम की कुछ फ़िक्र करते हैं. ऊपर से कॉरपोरेट जगत हावी हो गया है. अब मुट्ठी भर शायलॉक तय कर रहे हैं कि हिंदुस्तान का अगला वज़ीरे-आज़म कौन होना चाहिए. अब तमाम सरकारें अमीरों को और अमीर बनाने और अवाम को और मज़्लूम बनाने के लिए अपने ज़मीर का सौदा करने में लगी होती हैं.

इन मुल्क-दुश्मन रहनुमाओं को तो छोड़िए, जब कोई अवामी इन्क़िलाब बरपा होगा तब इनकी काली करतूतों की ख़बर ली जाएगी, लेकिन आज़ाद भारत में अंग्रेज़ों से उधार लिया हुआ जो निज़ामे-हुकूमत का सैट-अप है, क्या उसे चुस्त-दुरुस्त करने की ज़रूरत नहीं है? अस्ल में तो ये नौकरशाह ही इस मुल्क के अस्ल आक़ा हैं और इन्हें ग़ुलाम भारत के आक़ाओं की तरह तैयार किया जाता है. इन नौकरशाहों का जो दफ़्तरी अमला है, वो दरअस्ल ख़ूनी जोंकें हैं जो पिछले साठ बरसों से अवाम का न सिर्फ़ ख़ून चूस रही हैं, बल्कि उनके साथ ग़ुलामों जैसा सुलूक कर रही हैं. इनको किसी का ख़ौफ़ नहीं है. ये हमारे दायमी दुश्मन हैं और क़ौमी रहनुमा ग़ैर मुस्तक़िल दुश्मन. इन सबसे निपटने के लिए सिर्फ़ वोट देना काफ़ी नहीं है.

वोट देना अवाम की मजबूरी है. ये क़तई ज़रूरी नहीं है कि जिसे वोट दिया जाता है, वो अवामी नुमाइंदा भी हो. अस्लन वो पार्टी का नुमाइंदा होता है. तो देख लीजिए, अपना उम्मीदवार चुनने का हक़ भी अवाम को नहीं है.

ख़ैर! ये सब तो चलता रहेगा. हमारे आपके रोने-झींकने, झुंझलाने और हालात का सियापा करने से कुछ नहीं होगा. ये एक मकड़जाल है. ज़्यादा से ज़्यादा ये किया जा सकता है कि हर शहर, क़स्बे व गांव में बेदार पार्टियां बनायी जाएं जो संजीदगी से नौकरशाहों और उनकी मातहत ख़ूनी जोंकों की मुस्तक़िल ख़बर लेती रहें. दूसरा ये कि नेताओं की बेजा आवभगत और जी-हुज़ूरी से गुरेज़ करना चाहिए और उन्हें उनकी औक़ात बताना चाहिए कि वो भी आम हैं, ख़ास या आक़ा नहीं. तीसरा ये कि मीडिया पर दबाव बनाना चाहिए कि वो सियासी लोगों की फ़ज़ूल ख़बरों में कटौती करे और मुल्क की हक़ीक़ी समस्याओं को ज़्यादा फुटेज दे. मगर जनाब! ये सब तो ख़्वाब है. इस ख़्वाब को हक़ीक़त का जामा पहनाने के लिए अभी और इंतिज़ार करना होगा. बक़ौल साहिर लुधियानवी :

रात भर का है ये मेहमां अंधेरा
किस के रोके रुका है सवेरा!

❑

हसन जमाल



चराग़ जलता रहे

ख़लील तनवीर

मुद्दत से इस उम्मीद पे जलता रहा हूँ मैं
शायद कोई चराग़ जले इस चराग़ से

रसा चग़ताई

शहरे-सुख़न में ये सिलसिला रहा है कि चराग़ रौशन होता है, तो उससे फ़ायदा हासिल करने को तैयार रहते हैं. दरअस्ल किसी ज़मीन में कोई शाइर ग़ज़ल कहता है, तो दूसरे शाइर उसी ज़मीन में ग़ज़ल कहना बुरा नहीं समझते. इसका सबब ये भी होता है कि शे'र में जो ख़याल बांधा गया है, उसे अपने ढंग से कहने की कोशिश की जाती है.

नासिर काज़मी ने एक ग़ज़ल कही थी जिस का मतला था :

कोई और है नहीं तू नहीं मिरे रूबरू कोई और है
बड़ी देर में तुझे देख कर ये लगा के तू कोई और है

नसीर तुराबी ने क़ाफ़िया बदल कर इसी ज़मीन में एक ग़ज़ल 1977 ई. में कही थी, इसके बाद सलीम कौसर ने 1981 ई. एक ग़ज़ल कही. उसके बाद इसी ज़मीन में कई शाइरों ने ग़ज़लें कहीं, जिन में हसन अब्बास 'रज़ा' और मुसव्विर सब्ज़वारी का नाम भी शामिल है.

अहमद हमेश अपने रिसाले तश्कील (मार्च 1991 ई.) में नसीर तुराबी की ग़ज़ल के बारे में लिखते हैं, नसीर तुराबी ने जिन ज़मीनों में ग़ज़लें कही हैं, उन में अपने लहजे में ऐसी मुन्फ़रिद तासीर छोड़ी कि उस के बाद के शाइरों ने सिर्फ़ फ़ायदा उठाया, बल्कि तिजारती सत्ह पर मनफ़अतबख़्श मक़बूलियत हासिल की.

यहाँ नसीर तुराबी और सलीम कौसर की ग़ज़ल के पाँच-पाँच शे'र दिये जा रहे हैं. सलीम कौसर की ग़ज़ल को सब से ज़्यादा मक़बूलियत मिली, क्योंकि ग़ज़ल गायकों ने इसे गाया और फ़िल्म में भी लिया गया.

ग़ज़ल

नसीर तुराबी

तुझे क्या ख़बर मेरे बेख़बर मिरा सिलसिला कोई और है
जो मुझी को मुझ से बहम[1] करे वह गुरेज़पा[2] कोई और है

मिरे मौसमों के भी तौर[3] थे मिरे बर्गो-बार[4] ही और थे
मगर अब रविश[5] है अलग कोई मगर अब हवा कोई और है

यही शहर, शहरे-क़रार है तो दिले-शिकस्ता[6] की ख़ैर हो
मिरी आस है किसी और से, मुझे पूछता कोई और है

हैं मुहब्बतों की अमानतें यही हिजरतें[7] यही कुरबतें[8]
दिए बामो-दर[9] किसी और ने तो रहा बसा कोई और है

ये 'नसीर' शामे-सुपुर्दगी[10] की उदास-उदास सी रौशनी
बकिनारे गुल ज़रा देखना ये तुम्ही हो या कोई और है

1. मिलाए, 2. भागने वाला, 3. ढंग, 4. फल और पत्ते, 5. बाग़ की पटरी, 6. हारे हुए या टूटे हुए दिल, 7. वतन छोड़ कर और जगह बसना, 8. नज़दीकी, 9. छत और दरवाज़ा, 10. हवाले करने की शाम।

सलीम कौसर

मैं ख़याल हूँ किसी और का मुझे सोचता कोई और है
सरे-आईना[1] मिरा अक्स है, पसे-आईना[2] कोई और है

मैं किसी के दस्ते-तलब[3] में हूँ तो किसी के हर्फ़े-दुआ में हूँ
मैं नसीब हूँ किसी और का, मुझे माँगता कोई और है

मेरी रौशनी, तेरे ख़द्दो-खाल[4] से मुख़्तलिफ़[5] तो नहीं मगर
तू क़रीब आ, तुझे देख लूँ तू वही है या कोई और है

तुझे दुश्मनों की ख़बर न थी मुझे दोस्तों का पता नहीं
तेरी दास्तां कोई और थी मिरा वाक़िआ[6] कोई और है

कभी लौट आएं तो पूछना, नहीं देखना उन्हें ग़ौर से
जिन्हें रास्ते में ख़बर हुई कि ये रास्ता कोई और है ❑

1. आईने के सामने, 2. आईने के पीछे, 3. ख़्वाहिश के हाथ में, 4. चेहरे और तिल, 5. अलग, 6. हाल।

ख़लील तनवीर, 4/800 गांधी-नगर, मल्लाह तलाई, उदयपुर (राज.)

नायपॉल के नापाक ख़यालात

नासिर बग़दादी

एक बड़ा अदीब हर तरह के भेदभाव से बलंद होकर सही फ़िक्र व एहसास की बुनियाद पर अदब लिखता है. वो भूल कर भी हिंसक रवैया इख़्तियार नहीं करता. चूंकि वो सेकूलर ज़ेहनीयत का मालिक होता है, इसलिए वो किसी ख़ास तहज़ीब या मज़हब के हवाले से अपने ख़यालात का इज़हार नहीं करता. लेकिन जब हमें इस्लाम जैसे मज़हब के बारे में वी.एस. नायपॉल के ख़यालात मालूम होते हैं, तो लगता है, ये शख़्स इस्लाम-दुश्मनी में अंधा हो कर, अदबी क़द्रों के बरअक्स सफ़र करता रहा है. यक़ीन नहीं आता कि A House for Mr. Biswas और A bend in the River और Beyond Belief जैसी किताबें लिख कर ख़ुद को इंसानी सतह से नीचे गिरा देगा.

यह बात ग़लत नहीं कि नायपॉल ने फ़िक्शन के मुक़ाबले में ग़ैर फ़िक्शन लिख कर ज़्यादा शुहरत हासिल की है. अगर वो Among the Believers और Beyond Belief जैसी किताबें लिख कर पश्चिम के दुर्भाव रखने वाले लोगों को ख़ुश न करता, तो शायद कुछ और अच्छे नॉवेल लिखने के बावजूद वो नोबेल इन्आम पाने से महरूम ही रहता. Beyond Belief का मर्कज़ी ख़याल ये है कि इंडोनेशिया, मलेशिया, पाकिस्तान और ईरान समेत जिन मुल्कों में वो गया है, वहां के बाशिंदों ने धर्म परिवर्तन किया है. वो इस्लाम को अरबों का मज़हब मानता है. जो मुसलमान अरब नहीं है, उसे नायपॉल नौमुस्लिम (Convert) कहता है. वो हर नौमुस्लिम के नज़रिये को Distorted तसव्वुर करता है. उसके मुताबिक़ ऐसा शख़्स ज़ेहनी तौर पर बीमार होता है. ऐसा इसलिए है कि उसने धर्म बदल लिया है. किताब में कई जगहों पर नायपॉल कुछ मुस्लिम मुल्कों में मौजूद समस्याओं की निशानदेही करता है और इन समस्याओं का ज़िम्मेदार इस्लाम को ठहराता है. एक जगह वो पाकिस्तान के पुराने शहर लाहौर की कुछ तारीख़ी इमारतों और चीज़ों का ज़िक्र करता है जिनकी देखभाल का इंतिज़ाम तसल्लीबख़्श नहीं था. नायपॉल के नज़दीक इसकी वजह मज़हब की तब्दीली थी, इसलिए कि नये मुसलमान तारीख़ी शुऊर नहीं रखते हैं और उन्हें अपने पुरखों के यादगार विरसे से कोई दिलचस्पी

नहीं होती है. अगर नायपॉल की तारीख़ी याददाश्त कमज़ोर न होती, तो उसे मालूम हो जाता कि सिर्फ़ मुस्लिम मुल्कों ही में नहीं, बल्कि एशिया, अफ्रीक़ा, लेटिन अमेरिका और दुनिया के ज़्यादातर मुल्कों में रहने वालों को तारीख़ से दिलचस्पी, न होने के बराबर है और बुज़ुर्गों की छोड़ी हुई यादगारों को अफ़सोसनाक हद तक नज़रअंदाज़ किया जाता रहा है. यहां तक कि यूरोप की नई नस्ल भी इन चीजों की अहमियत से अनजान हो चुकी है. लिहाज़ा ये कहना बेजा नहीं कि नायपॉल ने निहायत कमज़ोर बुनियाद पर अपने मर्कज़ी ख़याल की इमारत खड़ी की है.

नायपॉल की ग़ैर फ़िक्शन तहरीरों को आम तौर पर असंतुलित माना जाता है. ग़ैर फ़िक्शन को फ़िक्शन बनाने की कोशिश में वो विवरणों को विस्तार देकर पाठकों को मुतास्सिर करने की कोशिश करता है. इस्लाम पर कीचड़ उछालने से इस्लाम की सेहत पर तो असर नहीं पड़ता, लेकिन उसका अपना किरदार नंगा होकर सामने आ जाता है. इंडियन दानिश्वर गायत्री स्पीवक (Gayatri Spivak) ने नायपॉल को एक झूठा मुक़ामी मुख़बिर (False Native Informant) कहा है जिससे यही निष्कर्ष निकलता है कि नायपॉल ने तीसरी दुनिया के बारे में आम तौर पर और इस्लाम के बारे में ख़ास तौर पर झूठे बयान दिये हैं. नोबेल इन्आमयाफ़्ता डेरिक वालकोट (Derek Walcott) ने वी.एस. नायपॉल को Night Fall का संबोधन दिया है और उसके घमंड और बेहिसी के रवैयों की सख़्त तन्क़ीद की है. वालकोट के ख़याल में नायपॉल की हैसियत एक ऐसे दल्लाल की-सी है, जिसने तीसरी दुनिया के हवाले से पश्चिम के निगेटिव ख़यालात को आम करने का ठेका ले रखा है. शायद ये बात ग़लत नहीं है, क्योंकि तीसरी दुनिया से ता'ल्लुक़ रखने के बावजूद उसकी हैसियत एक 'अजनबी' से ज़्यादा नहीं, जबकि पश्चिमी नज़रियों के ढिंढ़ोरचियों ने नायपॉल को सर पर बैठाया है. चूंकि नायपॉल एक ख़ास मक़्सद के तहत तीसरी दुनिया के दर्शन और पहलुओं को तन्क़ीद का निशाना बनाता रहा था, इसलिए कुछ सामराजी आलोचकों ने उसे समकालीन अंग्रेज़ी साहित्य का तेज़तर्रार अदीब कह कर सुर्ख़रू कर दिया.

पूर्वी दर्शन (Orientalism) के प्रणेता एडवर्ड सईद ने नायपॉल की गैर फ़िक्शन तहरीरों के ग़लत-सलत तथ्यों को उजागर किया है. ख़ास तौर से नायपॉल के सफ़रनामों पर लिखते हुए एडवर्ड सईद ने साबित किया है कि दोनों किताबें अस्लन नायपॉल के बिखरे ख़यालात, बीमार सोच और दिशाहीनता की द्योतक हैं. दरअस्ल नायपॉल के विचार बेपर के होने के कारण उड़ने की सलाहियत से महरूम हैं. वो दूसरों की जड़ें तलाश करने की कोशिश करता है, जबकि वो ख़ुद अपनी जड़ों में पैवस्त नहीं. इस क़दर बासलाहियत और तख़्लीक़ी ज़ेहन रखने के बावजूद नायपॉल ने कभी अपने इर्दगिर्द के हालात की जांच-परख नहीं की. अगर वो ऐसा करता, तो शायद उसे मालूम हो जाता कि जिस पश्चिम की रागिनी वो सारी ज़िंदगी अलापता रहा है, उसकी बदकारियों की वजह से

तीसरी दुनिया की क़ौमें सदियों पीछे रह गयी हैं. सितम-ऊपर-सितम ये कि वो अपने ही लोगों के ख़िलाफ़ बीमार भावनाएं रखता रहा है. दोनों सफ़रनामों में तर्क व सच नाम की कोई शै नहीं है. उन्हें अविश्वसनीय धारणाओं का संग्रह कहना ज़्यादा मुनासिब है.

एडवर्ड सईद ने Among the Believers पर अपना ख़ुलासा लिखते वक़्त बड़े सुलझे हुए अंदाज़ में दलीलों का सहारा लिया है. नायपॉल ने उन चार मुल्कों का दौरा करने से पहले ही सोच रखा था कि वो ऐसी बातें ज़रूर लिखेगा जिनसे मुसलमानों के ज़ेहनों में आग और बारूद पैदा हो सकते हैं. उसे सच्चाई पेश करने से कोई दिलचस्पी नहीं थी. जिसे अपने बाप की शख़्सियत को दाग़दार करने में शर्म नहीं आयी, उसे भला दूसरों के मज़हब से क्या हमदर्दी हो सकती थी! सईद ने लिखा है कि : 'नायपॉल को पूरा यक़ीन है कि सामराज का दौर एक सुनहरा दौर था, जब उपनिवेशी निज़ाम क़ायम करने वालों ने मक़ामी बाशिंदों पर हर तदबीर इस्तेमाल करके अपने निज़ाम को तूल दिया था.' सईद का कहना है कि तीसरी दुनिया के जो मुल्क सामराज के असर में अपने वक़ार को घटाते रहे हैं, आज उनके दानिश्वरों का फ़र्ज़ है कि वो Orientalism की रूह को ज़ाब्ते से सामराजवाद के ख़िलाफ़ खड़ा करें. सईद का ख़याल है कि सामराजी ठेकेदार चुनिंदा मक़ामी लोगों की मदद से अपने नज़रिये का प्रचार करते रहते हैं और नायपॉल उन्हीं लोगों में से एक है. दरअस्ल मक़ामी लोगों के बारे में नायपॉल का तर्ज़े-अमल इस बात को दिखाता है कि वो उनकी असलियत पर यक़ीन नहीं रखता और चाहता है कि साम्राज्यवाद के ख़ात्मे के बावजूद वो बिना किसी हिचकिचाहट के अपने साबिक़ आक़ाओं के इशारे पर दुम हिलाते रहें.

पश्चिम के तर्ज़े-अमल को देखते हुए हैरत भी होती है और अफ़सोस भी कि नोबेल प्राइज़ कमेटी समेत बाअसर हलक़ों और इदारों ने इस्लाम की बाबत दिये गए नायपॉल के उन बयानात को अहमियत दी और किसी ने ये जानने की कोशिश नहीं की कि नायपॉल इस्लाम और इस्लामी क़द्रों के मुता'ल्लिक़ कुछ नहीं जानता. इस सूरते-हाल से पश्चिम के नामनिहाद दानिश्वरों की ज़ेहनीयत को समझने में काफ़ी मदद मिलती है. बात सिर्फ़ इतनी है कि नायपॉल की ब्राह्मणी सोच ने ढोंगी अंदाज़ से मुसलमानों के जज़्बात को तकलीफ़ पहुंचाने की कोशिश की है. मुमकिन है कि नायपॉल 'इंतिहापसंद हिंदू' कहलाना पसंद न करता हो और शायद इस पर एतराज़ भी करे, लेकिन हक़ीक़तन उसने जिस तल्ख़ व तुर्श लहजे में तीसरी दुनिया के लोगों का ज़िक्र किया है, वो उसकी सुपरमेसी को ज़ाहिर करता है. उसका अपने बाप से जिन ख़तों का तबादला हुआ (Father & Son, PP. 124-124) उनके मुतालए से हमें मालूम होता है कि नायपॉल गोरा न होने के बावजूद कालों से नफ़रत करता है और इस्लाम व मुसलमानों को तो वो किसी सूरत बरदाश्त नहीं कर सकता. जब ये सब बातें तहरीरी और छपी हुई शक्ल में मौजूद हैं, तो नॉबेल प्राइज़ कमेटी की (Citation) के इन अल्फ़ाज़ की हैसियत मज़ाक़ से ज़्यादा नहीं

कि नायपॉल महज़ इस्लाम से नहीं, बल्कि हर मज़हब से बेज़ार है. इसको बददियानती का नुक़्त-ए-कमाल कहा जा सकता है कि अपने इन ख़तों को छापने के बाद कि जिनमें उसने कालों और मुसलमानों को गालियां दी हैं, उसने अख़्लाक़ी तक़ाज़ों का पास नहीं किया और अपनी हक़ीक़ी पोर्ट्रेट को पाठकों के सामने पेश नहीं किया.

हालांकि नायपॉल मज़हबी अक़ीदे के हवाले से ख़ुद को नास्तिक कहता है, लेकिन जब दिसम्बर 1992 में हिंदू इंतिहापसंदों ने बाबरी मस्जिद को शहीद किया था, तो उसने सीधे तौर पर इस हिंसक कार्रवाई की ताईद करके मुसलमानों और हिंदुओं को आपस में लड़ाने की कोशिश की थी. उसके ख़याल में ये एक Mighty Creating Process का हिस्सा है जिसकी इब्तिदा हक़परस्त हिंदुओं ने की है, जिनके लाखों पुरखों को हमलावर मुसलमानों ने जबरन मज़हब तब्दील करने पर मजबूर कर दिया था. उसके इस बारूदी बयान ने इंडिया के आज़ाद ख़याल दानिश्वर तबक़े-समेत, नायपॉल के अंग्रेज़ी रीडर्स को हैरान कर दिया था, जो इस भड़कती हुई आग को बुझाना चाहते थे.

नायपॉल का ये कहना कि इस्लाम अरबों का मज़हब है और ये कि तमाम ग़ैरअरब मुसलमान Converts हैं, एक मखौल है. नायपॉल को ये भी नहीं मालूम कि आज के दौर में 'अरब' उनको कहा जाता है जिनकी मक़ामी (Native) ज़बान अरबी होती है. ये ज़रूरी नहीं कि हर अरबी बोलने वाला मुसलमान हो. आज मध्य-पूर्व में लाखों ईसाइयों और यहूदियों की मक़ामी ज़बान अरबी है. अगर नायपॉल का नुक़्त-ए-नज़र तर्क पर आधारित होता, तो वो सब मुसलमान कहलाते, लेकिन सूरते-हाल इसके ख़िलाफ़ है. ख़ुद आलमगीर शुहरत रखने वाला अदीब एडवर्ड सईद अरब था, लेकिन मुसलमान नहीं था. नायपॉल को मालूम होना चाहिए कि मौजूदा ज़माने के लातादाद अरब मुसलमान ख़ुद 'मज़हब तब्दीली (Conversion of Religion) के अमल से गुज़रे हैं...और उन्हें नायपॉल की परिभाषा में Converts कहा जा सकता है. सचाई ये है कि ख़ुद अरब द्वीप में अरब के शुरुआती इस्लामी दौर के मुसलमान काफ़िर से मुसलमान हुए थे और उन्हें भी बजा तौर पर Converts कहा जा सकता है. नायपॉल की ऐतिहासिक चेतना बहुत कच्ची और बोदी है या उसने जानबूझ कर तारीख़ी हक़ीक़तों को तोड़-मरोड़ कर पेश करने की कोशिश की है. अगर नायपॉल की इस बुनियादी अवधारणा को सही मान लिया जाए, तो यूरोप और अमेरिका के करोड़ों ईसाई अपने आप Converts की फ़ेहरिस्त में शामिल हो जाते हैं, क्योंकि उनकी जड़ें ईसा मसीह के जन्मस्थान फ़िलस्तीन में पैवस्त नहीं. इस सिलसिले में नायपॉल मस्लेहत की बिना पर भीगी बिल्ली की तरह बिल्कुल ख़ामोश है. ❑

(तिमाही : बादबान-12, अक्टूबर-ता-दिसंबर 08, कीमत 250/-, ई-2, 8/14, मेमार स्क्वायर ब्लॉक 14, गुलशने-इक़बाल, कराची-फ़ोन : 4947230, ई-मेल : badbaanurdu@yahoo.com)

सोसायटी, सियासत और साइंस

बिल्क़ीस मूसवी

चेतनशील लोग जानते भी हैं और बख़ूबी समझते भी हैं कि सोसायटी की तरक़्क़ी में साइंस का बहुत बड़ा रोल है. अब सवाल ये है कि साइंस और सियासत का एक दूसरे से क्या रिश्ता है? इसके इलावा सोसायटी इन दोनों से किस तरह मुतास्सिर होती है? क्या साइंस की प्रगति से सोसायटी पर असर होता है? अगर ऐसा होता है, तो यक़ीनन साइंस का असर कई पहलुओं से सोसायटी पर पड़ता है. किसी भी सभ्यता का वुजूद मुमकिन ही नहीं, अगर वो सोसायटी अपने विद्वानों और वैज्ञानिकों की अहमियत को न समझे. याद रखिये कि सोसायटी के इन ऊंचे लोगों के गुणों में बदलाव आने से सोसायटी में भी बदलाव आते हैं. दूसरी सभ्यताओं के मुक़ाबले में यूरोपियन सभ्यता में इस तरह का बदलाव देखना निस्बतन आसान है.

यूरोपियन समाज के शुरुआती दौर में विद्वान, वो लोग माने जाते थे; जो मज़हबी रहनुमा थे. वो ज़माना बहुत लंबा चला. धीरे-धीरे क़ानून-क़ायदे बनाने वाले लोग उभरने लगे. आख़िरकार एक वक़्त वो आया, जब पादरियों के बजाए क़ानूनदां दानिश्वर सोसायटी के निज़ाम पर हावी हो गए. उन दानिश्वरों की बदौलत फ़िक्र व नज़र और इल्मी इदारों में भी तब्दीलियां होने लगीं. इतने बड़े पैमाने पर बदलाव बेसबब नहीं आता. इसलिए ये देखना लाज़िम हो गया कि ऐसा क्यों हो रहा है?

यूरोप के मध्य युग में धार्मिक रहनुमा धर्म के पासबान और समाज के अगुआ थे. पादरियों का गिरोह सबसे ज़्यादा ताक़तवर ग्रुप था. उन्होंने पूरे समाज को सीधे रास्ते पर लाने और चलाने की ज़िम्मेदारी अपने सर ले लीं थी. इसके लिए वो हर वक़्त उपदेश देने में मस्रूफ़ रहते थे. सिर्फ़ अवाम की तरफ़ ही उनका ध्यान नहीं था, बल्कि हाकिम और सत्ता वाले भी उनके अधीन जी रहे थे. लेकिन इतिहास गवाह है कि धीरे-धीरे चर्च की गिरफ़्त, ताक़त और दबदबे में गिरावट आने लगी. पादरियों के

हाथ से अधिकार निकलने के कई कारण थे. एक तरफ़ तो शाही ख़ानदानों में आपसी टकराव शुरू हो रहा था और चर्च के पादरियों से उनके मतभेद और तनाज़े बढ़ने लगे थे. दूसरी तरफ़ सोसायटी में नई-नई और पेचीदा बातें पैदा हो रही थीं. इन समस्याओं को हल करने के लिए क़ानूनी इदारों ने जड़ें पकड़ना शुरू कर दी थीं. इस तरह वकीलों और जजों को चर्च के निज़ाम पर बरतरी हासिल होती गयी और क़ानूनी प्रोफ़ेशनल्स के हाथों में अधिकार आने लगे. उसके बाद चर्च को वो मक़ाम फिर कभी न मिल सका. इसके इलावा कट्टर मज़हबी केथोलिक ईसाई देश भी क़ानूनी इदारों और प्रोफ़ेशनलों की दख़्लअंदाज़ी से बच न सके. सच तो ये है कि ज्यूडिशियरी और वकीलों ने ऐलानिया गिरजों के मुआमलों में बड़े पैमाने पर दख़्लअंदाज़ी शुरू कर दी थी. उस दौर के फ़्रांस पर नज़र डालें, तो वाज़ेह हो जाएगा कि क्या और क्यों हो रहा था? फ़्रांस में क़ानूनदां तबक़ा इतना ताक़तवर हो चुका था कि वकीलों ने चर्चों के कारोबार के लिए निज़ाम और क़ानून तक बना डाले और आख़िरकार एक वक़्त ऐसा आ ही गया कि चर्च के सारे अधिकार उस नए उन्नतशील ग्रुप के हाथ में आ गए. ये वो वक़्त था जब समाज पर चर्च की गिरफ़्त न के बराबर रह गयी थी.

मज़हबी दौर आस्मानी किताबों का दौर कहलाता है. इसका सबब ये है कि मुख़्तलिफ़ अहम मज़हबों की दैवीय किताबें उसी दौर की देन हैं. उनमें बताये गये हुक्म भी उनसे जुड़े समाजों की रहनुमाई कर रहे थे. इसके बरख़िलाफ़ प्रोफ़ेशनलिज़्म के दौर को 'इन्सानियत की किताब' का दौर कहना बजा है. दलीलों और बहस-मुबाहसों के ज़रीए किसी बात को साबित करना कोई नया तरीक़ा नहीं था. मध्य युग की तारीख़ इस बात की गवाह है कि उस ज़माने में भी दलीलों की मदद से ज़्यादातर मस्अले हल किये जाते थे. लेकिन चलन में ये था कि उस वक़्त 'ख़ुदा की मर्ज़ी' के मुताबिक़ फ़ैसले हो रहे थे, जबकि इस नए दौर में 'इन्सान की मर्ज़ी' यानी उसके नज़रीये पर आधारित अक़्ली दलीलों से निज़ाम चलाया जाने लगा था, जिसे सोसायटी और इन्सानियत की किताब के बीच एग्रीमेंट कहा जा सकता है. इस तरह तहरीरी क़ानून का दौर वुजूद में आया और मुल्की मुआमलों को चलाने के लिए बहुत-से मुल्कों में किसी-न-किसी शक्ल में पार्लियामेंट भी बना ली गयी. हर सोसायटी की पार्लियामेंट में ख़ासी बड़ी ता'दाद में वकील शामिल होते हैं, क्योंकि आलिमों, दानिश्वरों और शुरफ़ा के लिए क़ानून की बाज़ाब्ता ता'लीम नहीं हो पाती है. हक़ और नाहक़ के तनाज़ओं का फ़ैसला क़ानूनी जानकार से बेहतर और कौन कर सकता है? सबब इसका ये है कि ज्यूरी से जुड़े लोग इन्हीं प्रोफ़ेशनलों में से आते हैं.

मज़हबी रहनुमाओं और क़ानूनी दानिश्वरों के बाद आलिमों का एक और ग्रुप सोसायटी का अहम हिस्सा है. ये साइंसदानों का तबक़ा है, जो चर्चों और क़ानूनदानों से बहरहाल अलग है. ग़ौर करने की बात है कि क्या कभी ऐसा हो सकता है कि

सोसायटी का निज़ाम सिर्फ़ साइंसदानों के हाथ में पहुंच जाए, तो सोसायटी और सभ्यता की क्या शक्ल बन जाएगी? इस मस्अले पर भी संजीदगी से ग़ौर करने की ज़रूरत है. अब तक हर सभ्यता का निज़ाम दो क़िस्म के माहिरों के हाथ में रहा है, इसलिए एक तो ये देखना है कि निज़ाम बदलने से मज़हबी इदारों के दायरे किस तरह मुतास्सिर होंगे? दूसरा ये कि, क्या उनके ढांचे में किसी क़िस्म की तब्दीली मुमकिन है? और तीसरा ये कि, वक़्त के साथ चर्च के ओहदेदारों की फ़ितरत, मिज़ाज और सोच में कोई बदलाव आएगा या वो लोग उसी पुरानी डगर पर चलते रहेंगे?

क़ानूनी चलन में पेशरवी (Precedence) की बहुत अहमियत है. पेशरवी से मुराद है कि मिलते-जुलते हालात में क़ानूनी सलाहकार क्या करते रहे हैं और क्या फ़ैसला लेते हैं? अतीत की ऐसी मिसालें ज्युडिशयरी की मशाले-राह मानी जाती हैं.

सोसायटी पर साइंस की एक और शाख़ का असर देखने से पहले उस शाख़ यानी टेक्नोलॉजी का मुख़्तसर ज़िक्र ज़रूरी है. टेक्नोलॉजी दरअस्ल साइंस से हासिल बाई प्रोडक्ट है. लेकिन आम तौर से समाज में इसे साइंस का एंड प्रोडक्ट माना जाने लगा है. टेक्नोलॉजी का अस्ल रोल बदलाव की रफ़्तार को तेज़तर करना है.

विकास की बलंदियों पर पहुंचने के लिए हमारी उम्मीदें और हमारा जोशोख़रोश अपने पुरखों की करनी व कथनी से बिल्कुल अलग है यानी उन पुराने लोगों के दिखाये हुए रास्तों पर चलते रहने से विकास की रफ़्तार बढ़ने का कोई इम्कान नहीं है. इसके बावजूद उनके अमल के तरीक़े ज्यूरिस्ट की नज़र में, सुस्त रफ़्तारी ही से सही, आगे बढ़ते रहने के लिए विश्वसनीय हैं.

क़ानून की मज़बूती के लिए Precedence सबसे पुरानी और महफ़ूज़ बुनियाद है. पहले ये माना जाता रहा है कि अगर सिर्फ़ और सिर्फ़ रिवाज को क़ानून का दरजा हासिल हो जाए, तो वही क़ानून का संरक्षक बन जाता है. और यही सबब है कि आज भी Precedence को ये मक़ाम मिला हुआ है. इन हालात का बग़ौर अध्ययन करने के बाद 18वीं सदी का चिंतक Pascal इस नतीजे पर पहुंचा था कि किसी भी निज़ाम को नेस्तोनाबूद करने के लिए जान कर या अनजाने ये किया जा सकता है :

> *किसी ख़ुदमुख़्तार क़ौम या मुल्क के प्रचलित निज़ाम को एक चोट से अस्त-व्यस्त करने का एक ही रास्ता है, जो कामयाबी तक ले जाता है; मुल्क के इन्साफ़ के रखवाले इदारे को तबाह व बरबाद कर दिया जाए. इसके लिए बेहतरीन नुस्ख़ा ये है कि हर मुमकिन तरीक़े से इस बुनियादी निज़ाम की ख़ामियां तलाश करके उन्हें प्रचार से उजागर किया जाए, ताकि अवाम उन्हें जान लें.*

सबसे हैरतअंगेज़ कारनामा इस तरीक़े का ये है कि इस तरह प्रचलित निज़ाम का हर क़ाइदा और क़ानून सिर्फ़ ख़ामियों के कमज़ोर खंभों पर टिका हुआ नज़र आने लगता है. ये बाज़ी ऐसी है जिसका अंजाम मुक़ाबिल की तबाही के सिवा और कुछ नहीं.

इस पैमाने पर हुकूमत को परखने से निज़ाम की कमज़ोरियां बढ़-चढ़ कर सामने आ जाती हैं. लेकिन इस तरह की शिद्दतपसंदी से बचना चाहिए. सोचने की बात है कि कुछ मुल्क ऐसे हैं जो क़ानूनों के बेउसूल होने के बावजूद हर शहरी की भलाई के लिए काम करते हैं. उनमें से एक इंग्लैंड है. ख़ूबी की बात ये है कि वहां के क़ानून रिवाजों Traditions से निकले हैं यानी इंग्लिस्तान का निज़ामे-हुकूमत तहरीरी दस्तावेज़ की शक्ल में नहीं है, लेकिन इसके बावजूद ख़ामियों से क़रीब-क़रीब पाक है. ये भी देखने में आया है कि तर्कसंगत दलीलों पर बनाया गया हर फ़र्मान या क़ानून हमेशा पूर्ण नहीं होता. नोट करने की बात ये है कि दलीलों पर आधारित क़ानून बदलाव की रफ़्तार को तेज़ कर देता है. लेकिन अगर कुछ ख़ामी नज़र आए, तो इन हालात में Precedence पर आधारित तरीक़े की तरफ़ लौटना दुश्वार हो जाता है, इसलिए तब्दीली के लिए सोच-समझ कर क़दम उठाना लाज़िम है.

18वीं सदी में सोसायटी को यक़ीन था कि एक ऐसा पुख़्ता क़ानूनी निज़ाम बनाया जा सकता है जो सोसायटी के लिए मुनासिब भी होगा और उसकी बनावट के मुताबिक़ भी होगा.लेकिन जो नतीजे सामने आए उसने इस यक़ीन को झुठला दिया. हालात ऐसे पैदा होने लगे कि सोसायटी के ऑर्डर यानी तर्तीब की हैसियत को लोग भूलने लगे. इसलिए उसे Organization का दरजा देने लगे. इस का ख़ुलासा ज़रूरी है :

> *सोसायटी (Order) के क़ानून इन्साफ़ की राह पर चलने के लिए बनाये जाते हैं, जबकि ऑर्गेनाइज़ेशन के क़ानूनों में लोगों के अमल के मद्देनज़र अगर ज़रूरत हो, तो तब्दीली करना लाज़िमी है.*

इसलिए अक्सर देखने में आता है कि ऊंची पोस्ट की नियुक्ति में लियाक़त और अहलियत को ध्यान में रखते हुए जूनियर को मुंतख़ब कर लेते हैं, क्योंकि यही 'वक़्त' का तक़ाज़ा होता है.

एक ज़माना था, जब हर काम को अंजाम देने का 'सही और मा'क़ूल' तरीक़ा हुआ करता था जिसे हक़ और इन्साफ़ की राह कह सकते हैं. मसलन फ़ैक्टरी में नियुक्ति के लिए उम्मीदवार की क़ाबिलियत और ईमानदारी के बारे में तस्दीक़ कर ली जाती है. लेकिन आज के दौर में उमूमन परफ़ोरमेंस को तरजीह दी जाती है.

इस बदलते ज़माने में जो नहीं बदला है, वो ज्युडिशियरी-निज़ाम या क़ानूनी इदारे हैं. पुराने दौर के सुस्त रफ़्तार सोशियल सिस्टम की सिर्फ़ यही यादगार आज भी ज़िंदा है. लेकिन ये निज़ाम मौजूदा दौर की ज़िंदगी से वास्ता नहीं रखता. देखना है कि न्याय व्यवस्था इसी हालत में कब तक बरक़रार रहेगी!

17वीं सदी के ख़त्म होते-होते सोसायटी के सोच-विचार के नज़रीये ने एक

और करवट बदली. यूरोपियन चिंतक Male Branceh (1715-1638) ने ये नज़रीया पेश किया :

ख़ुदा की नज़र में वो इन्सान श्रेष्ठ है, जो दुनिया में उपलब्ध संसाधनों को किफ़ायत से ख़र्च करता हो.

दूसरे लफ़्ज़ों में इसी बात को यूं भी कहा जा सकता है कि मिले हुए संसाधनों से ज़्यादा-से-ज़्यादा फ़ायदा उठाना ही सही तरीक़ा है, इसलिए पश्चिमी देश अपनी क़ाबिलियत के बल पर संसाधनों का ज़्यादा इस्तेमाल कर रहे हैं और अविकसित देश इस मुआमले में पिछड़ गए हैं.

ये सच है कि जो क़ानूनी निज़ाम जारी है, वो तरक़्क़ी रफ़्तार में ख़लल डालता है. लेकिन ये भी सच है कि ज्यूरी के निज़ाम की बदौलत साइंस का बिला वास्ता असर पड़ रहा है.

सोच-विचार का ये सही वक़्त है कि ज्यूरी के पुराने निज़म को ख़त्म करने में साइंस क्या रोल अदा कर सकती है? सीधे तो नहीं, परोक्ष तौर से इसका असर हो सकता है. बड़ी तादाद में आम लोग और तालीमयाफ़्ता तबक़ा, दोनों ही सोचते हैं कि वो वक़्त आने वाला है जब साइंसदानों के हाथ में हुकूमत का निज़ाम पहुंच जाएगा. क्या साइंसदानों में सियासतदान (Statesmen) बनने की सलाहियत होती है? दूसरा सवाल ये है कि क्या इस नई हैसियत में साइंसदान सोसायटी पर हावी हो सकेंगे? ख़ासी बड़ी तादाद में पश्चिम के चिंतकों का ख़याल है कि ऐसा कभी नहीं हो सकता. इसका सबब वो लोग ये बताते हैं कि माहिर सियासतदां बनने के लिए जिन गुणों की ज़रूरत होती है, साइंसदानों में उनकी कमी होती है.

साइंसदां की पहली ख़ासियत ये है कि वो एक वक़्त में सिर्फ़ एक मस्अले पर जी-जान से लगा रहता है. यहां तक कि उसे दुनिया के मस्अलों और सामाजिक संबंधों को भुलाये रखना पड़ता है. इसीलिए वो अपनी अहम रिसर्च के दौरान बार-बार ऐसे दौर से गुज़रता है, जब वो बाहर की दुनिया को याद ही नहीं रख सकता; जबकि सियासतदानों की दिलचस्पियों का कोई मर्क़ज़ नहीं होता. वो हर वक़्त तरह-तरह की समस्याओं में घिरे रहते हैं. साइंसदानों की तरह वो पसन्दीदा मस्अले ख़ुद नहीं चुनते; बल्कि ज़्यादातर मस्अले अज़ख़ुद उनके सामने आ जाते हैं और उनको फ़ौरन निबटाना पड़ता है. हर दिन उनको बिल्कुल नये मस्अलों से जूझना पड़ता है, वो भी बड़ी तेज़ रफ़्तारी से और उनका ऐसा हल ढूंढ़ना पड़ता है जो अवाम को क़बूल हो. ये अमल यक़ीनन लाजवाब बाज़ीगरी से कम नहीं, लेकिन साइंसदानों के लिए इस तरह का कारनामा कर दिखाना बहुत मुश्किल है. ख़ास तौर से ऐसे शख़्स के लिए जिसकी तालीम व तर्बीयत दूसरी तरह की हो.

साइंसदां और सियासतदां के अमल और जुदागाना ख़ासियतों पर उनकी

कारकर्दगी का दारोमदार है. मसलन दावे पेश करने में साइंसदां बहुत सचेत होता है, जबकि सियासतदां दावे करने में देर नहीं करता. ये गिरोह बला का बेबाक और बेधड़क होता है. सियासत और साइंस की बिल्कुल अलग सरगर्मियां हैं. इसके बावजूद फ्रांस में एक वक़्त ऐसा आया जब एक नई सूरतेहाल देखने में आने लगी. ये 1789 की बात है जब कितने ही नामवर साइंसदानों ने सियासत के मैदान का रुख़ करना शुरू कर दिया, लेकिन वो लोग कभी भी कामयाब और नामवर सियासतदां न बन सके और न ही क़ाबिले-ज़िक्र कारनामे दिखा सके. अलबत्ता ये ज़रूर हुआ कि उन साइंसदानों ने तालीम के मैदान में तामीरी और क़ाबिले-क़द्र काम अंजाम दिये.

ये एतराज़ किया जा सकता है कि इस ज़माने में बड़ी तादाद में रिसर्च के बड़े इदारे वुजूद में आ रहे हैं, जहां साइंसदां बड़ी तादाद में, रिसर्च में कामयाबियां हासिल कर रहे हैं. ये क़ाबिले-ज़िक्र बात है कि कितने ही औद्योगिक घराने इन सक्रिय साइंसदानों को माली इमदाद देते हैं. साइंसी इदारों के सरबराहों को जो साइंसदां ही होते हैं, अपना इंस्टीट्यूट कामयाबी से चलाने में अपनी ज़ाती इंतिज़ामी सलाहियतों को दिखाना ज़रूरी है. इस काम के लिए ख़र्चों को निस्बतन बेहतर तरीक़े से पूरा करने के लिए ज़्यादा से ज़्यादा फंड हासिल करने में उन्हें अपने हुनर का इस्तेमाल करना पड़ता है. डायरेक्टर की हैसियत से साइंसदां का इंतिख़ाब उसकी सियासी सलाहियतों की बिना पर ही किया जाता है. इसका सबब ये है कि ऐसे ही शख़्स के ज़रीए इंस्टीट्यूट को तरक़्क़ी मिलती है. ये क़तई नामुमकिन है कि इन राहों पर चलने वाले साइंसदानों में से ऐसी सलाहियतों वाले कुछ लोग सियासत की राह पर भी चल पड़ते हैं, लेकिन इसका हरगिज़ यकीन नहीं कि, आया वो अपनी इस ख़ासियत के बलबूते पर साइंसदां के ख़ास किरदार को भी बरक़रार रख सकेंगे? ज़्यादा संभावना इस बात की है कि सियासी ऑफ़िस संभालने के सबब वो अपने अस्ल और बुनियादी किरदार से ग़ाफ़िल हो सकते हैं.

पिछली सदी की छठी दहाई में 'बुलेटिन' पत्रिका में मशहूर सियासी चिंतक Gerand Piel का क़ौल शाए' हुआ था जो कुछ इस तरह से है :

> *हर सोसायटी में एक साथ दो तहरीकें, साइंस और जुम्हूरीयत कारफ़र्मा होती हैं. इन दोनों ने जहां भी जड़ें पकड़ीं, एक दूसरे का सहारा साबित हुईं.*

ये रिश्ता ग़ैर-इरादी तौर पर वुजूद में आया है, लेकिन दोनों ही ग्रुप को एक दूसरे का पूरा भरोसा था. क़ाबिले-ज़िक्र हक़ीक़त ये है कि 19 वीं सदी में इस रिश्ते में उम्मीद और बेहतरी की झलक साफ़ अयां है.

रूस में साइंस की तरक़्क़ी की तारीख़ पर नज़र डालने से पता चलता है कि अगर वहां जुम्हूरी तर्ज़े-हुकूमत न भी होती, तब भी साइंस की तरक़्क़ी में रुकावट दरपेश न

आती. ज़ाहिर है कि दानिश्वरों और चिंतकों के लिए ये बात इत्मीनानबख़्श है.

अब सवाल ये उठता है कि साइंस की तरक़्क़ी किस हद तक क़ाबिले-भरोसा है? हम कैसे जान लेते हैं कि रौशनी की रफ़्तार से ज़्यादा किसी शै की रफ़्तार हो ही नहीं सकती. या ये कि दुनिया के गिर्द ओज़ोन गैस का एक ग़िलाफ़ है, जो सूरज से आने वाली ख़तरनाक किरणों से हर जानदार शै को महफ़ूज़ रखता है. और ये भी कि इस ग़िलाफ़ में उत्तरी ध्रुव के ऊपर एक सूराख़ हो गया है. या फिर एक मामूली-सा अवलोकन कि लिखने-पढ़ने की मेज़ हमें ठोस मालूम होती है, जबकि साइंस पता देती है कि इसका ज़्यादातर हिस्सा ख़ाली है. आख़िर ये बातें हम क्यों मान लेते हैं? इन्हें वास्तविकता क्यों समझते हैं! इसलिए कि हमें साइंस की सचाई पर इस हद तक एतबार है कि हमें किसी और ज़रीए से इन जवाबों की तस्दीक़ करने का कभी ख़याल भी नहीं आता.

अगर कोई व्यक्ति अपने आज के रवैये और दो तीन सौ साल पहले के रवैये की तुलना करे, तो साफ़ हो जाएगा कि आज की दुनिया में उस पुराने दौर के मुक़ाबले में मिली शहादतों पर कितना ज़्यादा एतबार है! इसीलिए आज का इन्सान अपनी लाइल्मी से बख़ूबी बाख़बर है. दिलचस्प सचाई ये है कि हर शख़्स को ज़ाती सूझबूझ की मदद से की गयी तस्दीक़ पर कम भरोसा है और साइंस से मिली गवाही पर हद दरजा यक़ीन है. इसका मतलब है कि इन्सान को अपनी बेख़बरी का मुकम्मल तौर पर अंदाज़ा भी है और इल्म भी और ये भी कि सोसायटी की तरक़्क़ी की रफ़्तार साइंस के सहारे तेज़ से तेज़तर हो रही है. इन्सान के इल्म में इज़ाफ़े की इन्तिहा का अंदाज़ा लगाना मुश्किल है. इल्म के इस इज़ाफ़े के सबब हर शख़्स को अपने तौर पर साइंस की मालूमात की कमी का एहसास हो रहा है, इसलिए हालिया दौर को 'निजी अज्ञान' का दौर कहा जा सकता है.

रिसर्च का मे'यार बलंदतर होने की बिना पर हर साइंसदां को एहसास है कि अगर उसके निकाले गए नतीजों का फ़ील्ड और मुख़्तसर होता जाए, तो उसे सचेत होकर बयान देना ज़रूरी होता है. इसके साथ अपने बयान की सेहत का ज़्यादा से ज़्यादा ध्यान रखना चाहिए. साइंस ऐसा क्षेत्र है जिसके विकास की रफ़्तार पर कोई रोक नहीं लगायी जा सकती है. साथ में ये भी नोट करने की बात है कि साइंसदां के ख़यालात और नज़रीयात में rigidity नहीं होती. नए नज़रीयात हमेशा उसकी तवज्जोह अपनी तरफ़ खींच लेते हैं, क्योंकि नज़र का फैलाव और कल्पना की उड़ान उसकी फ़ितरत हैं. ❑

(माहनामा : ऐवाने-उर्दू, दिल्ली, फ़रवरी 2009)

6 कबीर कॉलोनी, अनूपशहर रोड, अलीगढ़-202002

कहानी की बातें

क़ैसर तमकीन

आम तौर पर जज़्बाती और हस्सास (संवेदनशील) लोग नॉवेल और कहानियां पढ़ कर अपनी ज़िंदगी की कामयाबी, नाकामी व तंगहाली का मुक़ाबला उन कहानियों और दास्तानों के अहम किरदारों से करते हैं. बहुत-से लोग ये सोच कर संतुष्ट हो जाते हैं कि हमारी तरह के और भी लोग दुनिया में ऐसे हैं जो मुसीबतों और मुश्किलों को झेलते हैं. कुछ तो सब्र व शुक्र करके चुप हो जाते हैं और कुछ जद्दोजहद की तरफ़ ध्यान देते हैं. कामयाबी हो या नाकामी, नतीजों की उन्हें परवाह नहीं होती है और न ही वो मुश्किलों से समझौते पर आमादा होते हैं. बहुतेरे पाठक ऐसे होते हैं जो नॉवेलों या कहानियों के बदनसीब किरदारों के बरख़िलाफ़ किसी समझौते को अपनी ग़ैरत के लिए सब्रआज़मा ख़याल करते हुए 'मुझे नाकामियों पर अश्क बहाना नहीं आता' कहते और अपनी ज़िंदगी को ही एक नई दास्तान बनाने में लग जाते हैं. फ़िक्शननिगारों की एक क़िस्म वो भी है जो दिलशाद अंजाम और फिर 'वो हंसी-ख़ुशी रहने लगे' क़िस्म की कहानियां लिख कर एक ख़ास हलक़े में मक़बूलियत हासिल कर लेते हैं. लेकिन हक़ीक़तपसंद क़लमकार ख़ुशअंजाम कहानियां लिख कर पैसे बटोरने को अपने लिए बेहतर नहीं समझते हैं. हक़ीक़त जितनी तल्ख़ और संगीन होती है, उसी तल्ख़ी और शिद्दत के साथ अगर हमारे क़लम से निकल जाए; तो उसे अदबपारा (साहित्यिक कृति) कहना आसान होता है, लेकिन ज़्यादातर ऐसा होता नहीं है.

हमारे ख़ानदानी क़ब्रिस्तान के किसी कोने में हमारे बाप-दादा की क़ब्रें भी हैं. हमें उनसे कभी दिलचस्पी नहीं रही, बस यही सोचते हैं कि अगर हम मिट्टी के इन ढेरों को फूलों से सजा कर इस पर क़ीमती चादरें चढ़ाएं, तो क्या वाक़ई हमारे बुज़ुर्गों को कोई राहत नसीब होगी?

एक बार शहर में बहुत ज़ोर की बरसात हुई. कोई पुश्ता टूट गया जिसकी वजह

से सैलाब का पानी शहर में आ गया. गलियां, सड़कें और रास्ते जल-थल हो गए. उसी में हमारा क़ब्रिस्तान भी बरबाद हो गया. बीसियों क़ब्रें फट गयीं, लाशों की हड्डियां ऊपर आ कर तैरने लगीं. उनमें हमारे बुज़ुर्गों के ढांचे भी रहे होंगे, मगर हम अपने अज़ीज़ों और रिश्तेदारों के जज़्बात का ख़याल करके उन हड्डियों, पंजरों और खोपड़ियों की मन्ज़रकशी न कर सके. ये चश्मदीद मन्ज़र एक हक़ीक़तनुमा कहानी बन सकता था, लेकिन हम उसे दास्तान बनाने या उसमें रंग भर के उसे क़ब्रपरस्ती और मानव अंग बेचने के ख़िलाफ़ न इस्तेमाल कर सके. तभी हमें पूरी तरह ये एहसास हो गया कि कहानी लिखना और हक़ीक़त जैसी कहानी लिखना कितना मुश्किल और दिल-गुर्दे का काम है.

हमने अपने कुन्बे के बड़े-बड़े आलिमों और रईसों के मज़ारों का हश्र हमेशा अपने ज़ेहन में रखा. मालूम था कि उन मज़ारों की बहुत इबरतनाक कहानियां हो सकती हैं. आम माज़ीपरस्तों को टूटी-फूटी हवेलियों, दांत निकोसती क़ब्रों और उन क़ब्रों की तह में पड़े हुए आली मक़ाम और अज़ीमुश्शान हज़रात कि बाक़ीयात (अवशेष) से चिमटे हुए और हड्डियों का गूदा चूसते हुए कीड़ों की सरगर्मियों से बहुत दिलचस्पी होती है, लेकिन हमारा कोई अज़ीज़ और सगा भाई भी जब इस दुनिया से उठ गया और ख़ाक की आग़ोश में पिन्हां (लुप्त) हो गया, तो हमें उसके माद्दी (भौतिक) वुजूद से कोई दिलचस्पी नहीं रह गयी. बूढ़ी दुनिया मरती रहती है. अगर हम आज मौत को गले न लगाएं, तो आने वाले बच्चों और नस्लों के पास रहने का ठिकाना कहां रह जाएगा! कहानीकार ही इस हक़ीक़त का खुले अंदाज़ में बयान करता है. शाइर इज़रात तो मरने के बाद भी यही रोया करते हैं कि उनकी क़ब्र पर कोई दो फूल डालने वाला नहीं है, कोई चराग़ जलाने वाला नहीं है, कोई उर्स, जश्न और मेले बरपा करने वाला नहीं है. हज़रत फ़ानी बदायूंनी के मज़ार पर अगर हमेशा के लिए गैस के हंडों और चराग़ां का बंदोबस्त कर दिया जाए, तो क्या ख़ुद शाइर की उन बदनसीबियों और मुश्किलों का सिला मिल जाएगा जो उन्हें हैदराबाद के दौराने-क़याम झेलनी पड़ीं?

कहानी ख़्वाह ज़िंदगी की हो या मौत की, एक शो'ला होती है. एक ऐसा शो'ला जो अचानक लपक उठता है. कहानी वक़्त की पुकार होती है. ख़ुद को लिखवाती है. अहले-नज़र को अपने तरफ़ मुतवज्जेह कराती है, किसी सख़्तगीर उस्ताद की तरह अहमियत व माहीयत (वास्तविकता) से दर्से-हयात (ज़िंदगी का पाठ) देती है. दुनिया के मआल (निष्कर्ष) का नक़्शा सिर्फ़ एक कहानीकार ही पेश कर सकता है. ये हिज्र व फ़िराक़ में टेसुए बहाने वाले शाइर के बस की बात नहीं होती है.

आइये, अब हक़ीक़तनिगारी की चंद मिसालें देखें :

एगा मेमन की बीवी क्लीटेम नेस्टर अपने शौहर को क़त्ल करके कितनी ख़ुश

नज़र आती है. डिकन्स का बिल साइक्स नेनसी जैसी रहमदिल व मेहरबान तवाइफ़ का किस तरह क़त्ल करके टुकड़े-टुकड़े कर देता है! दोस्तोवस्की का रास्कोल नकोफ़ किस तरह दो क़त्ल कर डालता है. अल्बेयर कामू का मयूरज़ाल किस तरह एक अरब को गोली मार देता है. नोबोकोफ़ का इम्बर्ट लोलिता की मां को क़त्ल करने का मन्सूबा बनाता है. (इससे पहले वो ख़ुद ही एक गाड़ी के नीचे कुचल कर मर जाती है) मगर मन्सूबे की नाकामी पर वो एक दूसरे शख़्स को ज़िब्ह कर डालता है, जो लोलिता को उसके हाथों से छीन ले जाता है. दौरे-हाज़िर का नॉवेलनिगार लायनल का हीरो किस बेरहमी से तीर व कमान का इस्तेमाल करके क़त्ल करता है. शौकत सिद्धीक़ी का ठेकेदार हिंसा के क्या नक़्शे पेश करता है...ये सब वाक़िआत हक़ीक़ी नहीं हैं, लेकिन फिर भी ज़िंदगी के ऐसे वाक़िआत ज़रूर हैं; जिनके बारे में आसानी से ये नहीं कहा जा सकता है कि महज़ कहानीकार के तख़य्युल (कल्पना) की बलंद पर्वाज़ी है और आम ज़िंदगी में ऐसा होता नहीं है. कहानी की ख़ासियत यही है कि हक़ीक़त न होने के बावजूद उसे ग़ैर हक़ीक़ीत कहना आसान नहीं होता.

हाल ही में कई रिसालों में मुख़्तसर कहानी के बारे में मज़ामीन देखने में आये, मगर सब में दो मुतज़ाद (विरोधाभासी) रायें पेश की गयीं. एक तरफ़ तो कहा जा रहा है कि कहानी का फ़न तेज़ी से रू बः ज़वाल (पतनोन्मुख) है और पाठकों की तादाद यूरोप और अमेरिका, दोनों जगह कम होती जा रही है. दूसरी तरफ़ कई रिसालों में ये पढ़ने को मिला कि कहानी को नज़र अंदाज़ करने की कोई ज़रूरत नहीं है. छोटी चीज़ें ख़ूबसूरत होती हैं The small is beautiful का मक़ूला (कथन) आज भी एक हक़ीक़त है. अब ये कहना मुश्किल है कि हक़ीक़त क्या है? मुमकिन है, इन दोनों रायों के दरमियान हो. लेकिन एक बात किसी-न-किसी तरह हर अहले-राय कहता है कि कहानियों के मुआवज़े में बराबर कमी हो रही है. इस वजह से भी कहानी व फ़साने की दुनिया उधेड़बुन में मसरूफ़ है. ये देखा जा रहा है कि न्यूयार्क के रिसाले तो अब कहानियों को बहुत सोच-समझ कर और एहतियात के साथ हाथ लगाते हैं. अमेरिकी कहानीकार रिचर्ड फ़ोर्ड जो कई अदबी इन्आम जीत चुका है, बहुत बेनियाज़ी से कहता है कि कहानी का प्रचार और आम लोगों तक पहुंचाने के वसीलों में कुछ ढीलापन आ गया है. ये वही बात है कि जो नौबत नगाड़े बजवाने वाले अदीब हर जगह खेद व्यक्त करने के लिए इस्तेमाल करते हैं (मेरी पीआर मज़बूत नहीं है) लतीफ़ा ये है कि ये उज्र वही अदीब इस्तेमाल करते हैं जो हर नस्रनिगार को अपनी निगारशात (कृतियां) भेज कर इल्तिजा करते हैं कि अज़-राहे-करम दो-चार जुमले ही इनकी तारीफ़ में लिख दें.

ये ज़रूर है कि अमेरिका में रईस और मालदार रिसाले अब कहानीकारों से ज़रा दूर-दूर से नज़र आ रहे हैं. (इसकी मुख़्तलिफ़ और तफ़्सीलतलब वजहें हैं) मगर

इलाक़ाई जरीदों (पत्रिकाओं) में अब भी कहानी की बहुत पूछगूछ है. इसके इलावा लिखने वालों को मुख़्तलिफ़ अंजुमनों और इदारों (संस्थाओं) की तरफ़ से मा'क़ूल वज़ीफ़े मिलते हैं. इस वजह से भी कहानी का फ़न बिल्कुल ही ग़ैर मक़्बूल नहीं रहा है. अब भी कई लिखने वाले–ख़ास तौर पर औरतें रंग-बिरंगी कहानियां लिख कर मा'क़ूल मे'यारे-ज़िंदगी से फ़ायदा उठा रही हैं.

अमेरिका में फ्रेंक ओकानिल इंटरनेशनल शॉर्ट स्टोरी एवार्ड मुख़्तसर कहानी के पहले मज्मूए (संग्रह) पर दिया जाता है. कहानी लिखने वाला दुनिया के किसी भी मुल्क का हो सकता है, शर्त बस यही है कि मज्मूआ पहला हो और अंग्रेज़ी में हो. इस साल (2008) में 28 हज़ार पौंड का ये इन्आम प्रवासी बंगाली-अमेरिकी अदीब झुम्पा लहरी को मिला. मज्मूए का नाम है Unaccusto med earth. इन्आम देने वाली कमेटी के अर्कान (सदस्य) इस मज्मूए की कहानियों से इतना मुतास्सिर हुए कि उन्होंने मुक़ाबले में आने वाली दूसरी किताबों या उनके लिखने वालों की तरफ़ तवज्जोह ही नहीं की.

क़ाबिले-ज़िक्र बात ये है कि अदीब अमेरिकी है और इन्आम भी अमेरिका ही में दिया गया है. इसकी वजह शायद ये हो कि अमेरिका इस वक़्त मुख़्तसर कहानी का मर्कज़ है और ब्रितानिया और आयरलैंड इसके मुक़ाबले में खड़े भी नहीं हो पाते हैं. जहां तक इंग्लिस्तान का ता'ल्लुक़ है, तो यहां के अदबी हलक़े तस्लीम करते हैं कि पिछले पचास बरसों में ब्रितानिया में मुख़्तसर कहानी का ज़वाल ही हुआ है. विलियम ट्रेवर को छोड़ कर इंग्लिस्तान और आयरलैंड में कोई भी कहानीकार ऐसा नहीं है, जो महज़ अपनी कहानियों की वजह से पहचाना जाता हो. बहुत-से नॉवेलनिगार कहानियां भी लिखते हैं, लेकिन उन्हें मोपासां या चेख़व वग़ैरह की तरह कहानीकार कहना मुश्किल है. इस वक़्त जो कहानीकार हैं, वो अपने नॉवेलों की वजह से मशहूर हैं. गो कि ये लोग कहानियां भी लिखते हैं, लेकिन इनमें से किसी को भी कहानी के फ़न का माहिर या वाक़ई अच्छा कहानीकार कहना हक़ीक़त से दूर होगा. असलियत ये है कि अंग्रेज़ी कहानी अक्सर अदीबों या नॉवेलनिगारों के लिए एक रस्मी मशग़ला ज़रूर है, मगर उसे उनका फ़न या फ़ख़्र की बात कहना नाइन्साफ़ी है. एक अदीब का कहना है कि अगर कोई क़लमकार ख़ुद को नॉवेलनिगार या फ़िक्शननिगार की जगह स्टोरी राइटर कहलाए, तो उसकी हैसियत में कुछ कमी आ जाती है.

इस वक़्त सूरते-हाल ये है कि बड़े-बड़े नाम तो अंग्रेज़ी कहानीकारों के लिये जाते हैं, मगर कहानी का फ़न ख़ुद सिर्फ़ अमेरिका ही में तरक़्क़ी पर है. यहां इंग्लिस्तान में कहानी का कोई भी ज़िक्र हो, अदबी हलक़े किपलिंग, साकी, डीएच लॉरेंस, फ्रेंक ओकनर और वीएस प्रेचिट वग़ैरह के नाम ज़रूर लेते हैं. कभी-कभी तो ये तास्सुर मिलता है कि कहानी का फ़न इन नामों से शुरू हुआ और इन्हीं के साथ ख़त्म हो

गया. ये तो एक दो मिनट सोचने के बाद ही एहसास होता है कि कहानी पर ज़वाल सिर्फ़ इंग्लिस्तान ही में आया है. अमेरिका में सूरते-हाल मुख़्तलिफ़ है, क्योंकि वहां कहानी की तारीख़ ज़्यादा पुरानी है और कहानी लिखने वालों को ख़तीर (भारी) मुआवज़ा पेश करने की रिवायत भी है.

अमेरिका में कहानी का हक़ीक़ी दौर 1837 से शुरू होता है जब नेथेनियल हाथोर्न की किताब Tois Told Tales सामने आयी. उन्हीं दिनों एडगर ऐलन पो ने अपना मार्के का तब्सिरा शाए' किया और वाज़ेह अल्फ़ाज़ में कहा कि कहानी नॉवेल से बहुत पुरानी विधा है, क्योंकि हम उसे सिर्फ़ एक बैठक में पढ़ लेते हैं. जितनी मुद्दत तक पाठक कहानी पढ़ता रहता है, उसके हवास व होश कहानीकार के क़ब्ज़े में रहते हैं. पढ़ने वाला पूरी तरह कहानीकार की गिरफ़्त में रहता है.

ये दावा कि कहानी को नॉवेल पर फ़ौक़ियत हासिल है, अपने ज़माने में ख़ूब मक़्बूल हुआ और उसे एक तरह की हक़ीक़त मान लिया गया. अमेरिका के आम अदबी हलक़ों में कहानी की फ़ज़ीलत (श्रेष्ठता) मान ली गयी. इस पर तुर्रा ये कि 19 वीं सदी के दरमियानी हिस्से में चारों तरफ़ मुख़्तसर रिसालों और जरीदों की फ़रावानी (भरमार) हो गयी. रिसालों व जरीदों को हाथ में ले कर चलना या गाड़ियों और ट्रामों वग़ैरह में बैठ कर पढ़ना बहुत आसान था. मोटे-मोटे नॉवेल ले कर चलना और फिर चार, पांच सफ़्हे पढ़ कर 'बाक़ी आयंदा' पर उठा रखना आज भी ज़हमत तलब है. उन दिनों तो ये दूभर था. ये कहना शायद मुबालग़ा (अतिशयोक्ति) न होगा, कहानियों की वजह से ही अमेरिका में मोतबर रिसाले बराबर तरक़्क़ी करते रहे. एडगर ऐलन पो का ये कहना ग़लत नहीं है कि मौजूदा वक़्त की रवांदवां ज़िंदगी में एक बेहतर साथी सिर्फ़ कहानी ही हो सकती है.

अमेरिका में कहानी की मक़्बूलियत कुछ बड़ी पत्रिकाओं को छोड़ कर आजकल यानी 21 वीं सदी की शुरुआत में भी बरक़रार है. पिछली सदी के आख़िर तक 'न्यूयार्ककर', 'स्क्वायर' और प्ले ब्वॉय वग़ैरह अपनी आलमी मक़्बूलियत के लिए कहानी के ही मुहताज रहे और आज भी उनकी हरदिल अज़ीज़ी में कहानीकारों का बड़ा हिस्सा है. मुआवज़े की रक़्में इतनी हैं कि अब लोकप्रिय लेखक भी दूसरी विधाओं में मेहनत करने के बजाय कहानी लिखना आसान समझते हैं. मौजूदा मुआवज़ों का ज़िक्र करने के लिए 1920 का हाल बताना ज़रूरी है जब स्कॉटफिट्ज़ अपनी कहानी का मुआवज़ा चार हज़ार डॉलर लेता था. अब इस रक़्म को मौजूदा सिक्के की क़द्र में तब्दील करके देखिये तो मालूम होगा कि इतना मुआवज़ा आजकल हॉलीवुड की स्क्रिप्ट पर नज़रे-सानी करने वालों को भी नहीं मिलता है. एक समीक्षक का कहना है कि स्कॉट फ़िट्ज़ को अपनी एक कहानी से ही इतनी रक़्म मिल जाती है, जो एक आम यूनिवर्सिटी के लेक्चरर की साल भर की तनख़्वाह से भी ज़्यादा होती

है. मशहूर कहानीकार जॉन चिवर को 1950 में अपनी कहानियों से इतनी आमदनी होती थी कि वो न्यूयार्क के बेहतरीन इलाक़े में ऐशो-आराम से रहता था. क़ाबिले-लिहाज़ बात ये है कि चिवर सिर्फ़ 'न्यूयार्ककर' में लिखता था. अगर दूसरे मे'यारी रिसालों में भी लिखता तो शहज़ादों की तरह रहता. चिवर का ऐशो-आराम देख कर ही सामरसेट मॉम, हेमिंग्वे और कारवर वग़ैरह ने भी कहानी को संवारा और निखारा और आरामदेह ज़िंदगी गुज़ारने का वसीला बनाया.

इंग्लिस्तान में मुख़्तसर कहानी को फिर मक़्बूल बनाने की कोशिशें हो रही हैं, मगर यहां के जवान अपनी कोशिशों को ज़िंदगी का मक़्सद बनाने में हिचकिचाते हैं, क्योंकि उन्हें आसानी से अख़बारों या रेडियो व टी.वी. वग़ैरह में काम मिल जाता है. पिछले 25-30 बरसों से ब्रितानिया में कहानी को ज़िंदा करने की ज़रूरत पर ज़ोर दिया जा रहा है, मगर नॉवेलों और सनसनीखेज़ दस्तावेज़ी किताबों Doco Books की बहुतात की वजह से कोई ख़ास कामयाबी नहीं हो रही है. कई शहरों और यूनिवर्सिटियों में कहानी लिखने के कोर्स भी तैयार किये गए हैं, लेकिन अभी तक कोई ऐसा कहानीकार सामने नहीं आया है जिसे यूरोप, एशिया, अमेरिका या दक्षिणी अमेरिका के कहानीकारों के मुक़ाबिल पेश किया जा सके.

फिर भी ये कहना ठीक नहीं है कि मुआमला बिल्कुल ही नाक़ाबिले-इस्लाह है. कोशिशें बराबर की जा रही हैं कि ब्रितानिया में भी शॉर्ट स्टोरी को पहले की तरह लोकप्रिय बनाया जाए. एक 'नेशनल शॉर्ट स्टोरी एवार्ड' शुरू किया गया है जिसका अस्ल मक़्सद ये है कि मुद्दतों की बेख़बरी के बाद ब्रितानवी मुख़्तसर कहानी को फिर गरिमा मिले. नेशनल एंडोमेंट फ़ॉर साइंस ने इसके लिए ख़ासी रक़्म अलग महफ़ूज़ कर दी है. बीबीसी और 'प्रॉस्पेक्ट' मैगज़ीन के सहयोग से पंद्रह हज़ार पौंड की रक़्म सिर्फ़ एक कहानी पर इन्आम देने के लिये अलग रखी गयी है. किसी एक ही कहानी पर 15 हज़ार का इन्आम अपनी जगह बड़ी बात है, क्योंकि इतनी बड़ी रक़्म आम तौर पर पूरे अदबी सरमाये और ख़िदमात पर दी जाती है.

ये तो सब को मालूम है कि ब्रितानिया भी किसी ज़माने में मुख़्तसर कहानी का बड़ा मर्कज़ था. यहां के नुमायां कहानीकारों में सबसे पहले तो सर वॉल्टर स्कॉट की कहानी The Two Drivers-1827 का नाम आता है जब कि विक्टोरियाई काल का सबसे बड़ा और मशहूर किरदार शरलॉक होम्ज़ अपनी तख़्लीक़ व शुहरत के लिए हर तरह सर आर्थर कानन डायल का एहसानमंद है. जेम्स जॉयस का Dubliners जो 1914 में शाए' हुआ, प्रकाशन की दुनिया में सबसे ज़्यादा क़ाबिले-तवज्जोह और असरअंगेज़ मज्मूआ है. लोगों का ख़याल है कि कहानियों का इतना मुकम्मल मज्मूआ इससे पहले कहीं नहीं शाए' हुआ. सामरसेट मॉम और रोल्ड डॉल अपनी कहानियों का भारी मुआवज़ा वसूलते थे. 1920 में मॉम इस क़दर मक़्बूल था कि वो अमेरिकी

रिसालों से अपनी एक हज़ार अल्फ़ाज़ की एक कहानी का मुआवज़ा तीन हज़ार डॉलर तक लेता था. (फिर भी अदब दोस्तों का कहना है कि कहानी की हद में रह कर क़ोई चीज़ लिखी जाए, तो वो ज़्यादा-से-ज़्यादा 14-15 हज़ार लफ़्ज़ों की होगी और ये 15 हज़ार की रक़म एक छोटी-सी कार ख़रीदने के लिए भी नाकाफ़ी होगी.)

अमेरिका और इंग्लिस्तान में मुख़्तसर कहानी के इस हवाले से हमारा मक़्सद ये है कि अपनी उर्दू दुनिया के कहानी लिखने वालों को बाहर की दुनिया की तरफ़ देखने पर आमादा करें. हमें कहानियां पढ़ने का हमेशा से बहुत शौक़ रहा है. जहां तक हो सकता है, उर्दू अख़बारों और रिसालों में छपने वाली ज़्यादातर कहानियां पढ़ने और उर्दू दुनिया के रुज्हानों से वाक़िफ़ रहने की कोशिश करते हैं. दुनिया में हज़ारों-लाखों मस्अले हैं, जिनसे हमें जूझना पड़ता है. ख़ुद हिंदुस्तान और पाकिस्तान में ऐसे संगीन मस्अले हैं जिन पर गहरी नज़र डाली जाए, तो बेशुमार असरदार कहानियां तैयार की जा सकती हैं, लेकिन उर्दू के अफ़सानानिगार या तो टूटी-फूटी हवेलियों और बारगाहों का मातम करते या तोता-मैना क़िस्म की लंगड़ी दास्तानें सुनाया करते हैं. जिस तरह हमारी ग़ज़ल बुलबुल व क़फ़स, सय्याद और आशियां उजड़ने के सियापे तक महदूद होकर रह गयी थी, वही हालत उर्दू कहानी की भी हो चुकी है. कोई जियाला अगर एक क़दम आगे बढ़ाता है तो 'समाज में क्रप्शन बहुत है' कह कर रह जाता है. ख़ुद हिंदुस्तान की दूसरी ज़बानों के फ़िक्शन पर ही नज़र डाल लीजिये. ❑

(माहनामा–ऐवाने उर्दू, देहली, जनवरी 2009)

20, ब्रिच फ़ील्ड्स राइज, लीड्स 14-यॉर्क्स (यू.के.)



अख़्तर शीरानी

शौरिश काश्मीरी

दूसरी जंगे-अज़ीम से पहले लाहौर में अदीबों, शाइरों और कुछ सियासी कारकुनों के उठने, बैठने की दो जगहें थीं. एक अरब होटल, जो इस्लामिया कॉलेज के सद्र दरवाज़े पर वाक़े' है और दूसरी नगीना बेकरी जो नीला गुम्बद के चौक से पुरानी अनारकली के बाएं बाज़ू की छठी या सातवीं दुकान है. मॉल रोड के मौजूदा रेस्टोरेंट अभी खुले नहीं थे और कॉफ़ी हाउस या चीनी लंच होम तो अभी 20-22 बरस पहले खुले हैं. यूं भी उन दिनों ये होटल या रेस्टोरेंट उन क़लमकारों की पहुंच से बाहर थे. जंग टली तो क़लमकारों ने मॉल और मेट्रो के होटलों और रेस्टोरानों में बैठना शुरू किया. फिर उन्हीं के हो गए. अरब होटल और नगीना बेकरी का नाम ही रह गया. अरब होटल के कबाब मशहूर थे. नगीना बेकरी की चाय का चर्चा था. चिराग़ हसन हसरत, हमीद निज़ामी, आशिक़ बटालवी, बारी अलीग, मुर्तज़ा अहमद मैकश, अख़्तर शीरानी और तक़रीबन सभी मुसलमान अख़बारों का एडिटोरियल अमला अरब होटल में बैठता था. डॉ. सय्यद अब्दुल्लाह, डॉ. इनायतुल्लाह, मौलाना ताजूर नजीबाबादी, मौलाना सलाहुद्दीन अहमद (अदबी दुनिया), गोपाल मित्तल और हलक़-ए-अर्बाबे-ज़ौक़ के बाज़ नौजवान नगीना बेकरी में जमा होते थे. दोनों की आमदनी का दारोमदार कॉलेज के तलबा पर था. अरब होटल इस्लामिया कॉलेज के तलबा की वजह से चल रहा था. नगीना बेकरी में ओरियंटल कॉलेज और लॉ कॉलेज के नौजवानों ने ज़ोर बांध रखा था. उसी का नतीजा था कि होटल और बेकरी के मालिकों को अदीबों का उधार खलता नहीं था. अपने तौर पर अहले-क़लम भी मुत्मईन थे कि खाता खुला हुआ है. तक़ाज़ा है नहीं. अरब होटल के उधार की उम्र ज़्यादा थी. कई बार अख़बारनवीसों की तरफ़ छह-छह और सात-सात महीने के बिल हो जाते थे. होटल को ये फ़ायदा था कि अदीबों और शाइरों के प्रशंसक तलबा हर रोज़ आते जाते जिनमें कुछ क़र्ज़ भी चुका

देते थे. नगीना बेकरी का उधार कोई लम्बा न था. जो लोग यहां बैठते थे उनमें ज़्यादातर उस्ताद थे. रोज़ नहीं तो, हफ़्ते दस दिन में क़र्ज़ साफ़ हो जाता था.

अख़्तर शीरानी अस्ल में उन होटलों के आदमी न थे. न उन्हें क़हवाख़ानों या चायख़ानों से कोई सरोकार था और न वो उन महफ़िलों या मजलिसों ही से वास्ता रखते थे. वो बातूनी बिल्कुल न थे. शाइरी का इब्तिदाई दौर जो उनके विकास का दौर था, घर ही में गुज़रा. बाप स्कॉलर और नक़्क़ाद थे. बेटा शाइर और अदीब निकला. बड़े बाप के नामवर बेटे थे. जब अख़्तर बाद:नोशी (शराब पीने) में बहुत आगे निकल गए, बल्कि आवारा हो गए, तो बाप ने घर से निकाल दिया. अख़्तर ने तौबा की. बाप का प्यार राज़ी हो गया. मगर ये एक दफ़ा नहीं, कई दफ़ा हुआ. वालिद को अपनी बड़ाई का एहसास था. बेटा जिस सांचे में ढला हुआ था, उसे अब मोड़ना या तोड़ना मुश्किल था. बाप की मुआफ़ी और बेटे की तौबा में तकरार रही. लेकिन अख़्तर में वालिद का सम्मान ख़ौफ़ की हद तक था. वो उनसे हमेशा डरते रहे. फ़र्माबरदारी का ये हाल था कि बाप की आवाज़ से दुबक जाते थे, बल्कि उनसे आंख मिलाते हुए थर्राते थे. वालिद सामने से आ रहे हों, तो रास्ता काट कर निकल जाते. महमूद शीरानी बड़े मर्तबे के इन्सान थे. ज़ाहिर है कि ऐसे बाप पर अख़्तर शीरानी का फ़ख्र करना भी कुदरतन वाजिब था, लेकिन महमूद शीरानी भी बेटे पर जी जान से फ़िदा थे. उनके दिल शिकस्ता होने का सबब ये था कि अख़्तर ने अपने ख़ून को शराब कर लिया था. वो अख़्तर को किसी काम पर देखना चाहते थे. लेकिन अख़्तर किसी काम के न रहे थे. जिससे वो बड़े ही दुःखी थे और शायद यही सबब था कि पंजाब यूनिवर्सिटी से रिटायर होकर वो फ़ौरन ही अपने वतन टोंक चले गए. अख़्तर भी साथ ही गए थे. और ख़याल था कि शायद वहां सुधर जाएं, मगर तीर कमान से निकल चुका था :

छुटती नहीं है मुंह से ये काफ़िर लगी हुई

आख़िर महमूद शीरानी अपनी उम्र पूरी कर वफ़ात पा गए और टोंक ही में दफ़्न हुए. अख़्तर तक़्सीम के बाद पाकिस्तान आ गए. लाहौर में क़याम किया. बंद तो उनकी तबीअत पर पहले भी कोई न था. अब वालिद थे नहीं कि रोकते. दूसरी जंगे-अज़ीम के दिनों में तो कुछ ज़्यादा ही पीना शुरू कर दिया. टोंक में भी कुछ ज़्यादा क़याम न किया. वालिद ज़िंदा थे तो कोई बहाना तलाश कर चले आते. वो उठ गए, तो अब आजाद थे. सच तो ये है कि लाहौर उनसे छुटता नहीं था.

वो लाहौर पर जान देते थे. आबाई वतन टोंक ज़रूर था, लेकिन उनका अपना वतन लाहौर था. वो लाहौर में पढ़े, लाहौर में जवान हुए, लाहौर में इश्क़ किया. लाहौर में क़लम उठाया. लाहौर ही ने उन्हें शुहरत बख़्शी. यहां तक कि मर कर भी लाहौर ही में दफ़्न हुए. ये भी कह लीजिये कि लाहौर ही ने उन्हें मारा. लाहौर से उन्हें हद दरजे का इश्क़ था. तक़्सीम के वक़्त वो टोंक में थे. मैं रोज़नामा 'आज़ाद' का एडिटर था.

किसी अख़बार में छपा कि अख़्तर शीरानी भी हिंदुस्तान में शहीद हो गए हैं. मैंने इस पर इदारिया लिखा. उनकी एक नज़्म 'ओ देस से आने वाले बता' को एक लंबे शोक संदेश के साथ शाए' किया जिसका ख़ुलासा ये था कि जो लोग उस तरफ़ से आ रहे हैं, ए काश! वो बता सकते कि इस कालजयी नज़्म के लिखने वाले पर क्या बीती? हिंदुस्तान का दामन शाइरे रूमान (अख़्तर) के ख़ून से दाग़दार हो गया है. थोड़े दिनों बाद अख़्तर शीरानी सही व सलामत आ निकले. आज़ाद के दफ़्तर में पहुंचे, 'कहां है शोरिश?'

'आप हयात (ज़िंदा) हैं?' ये गोया एक मोजज़ा था. मैंने उछल कर सवाल किया.

'तुमने तो मार ही दिया था. अख़बार बेचने के लिए हमें शहीद कर डाला!'

जब स्रोत बताया कि फ़ुलां अख़बार से ख़बर हासिल की है, तो मान गए. देर तक इन्सानों के क़त्ले-आम पर रोते रहे. शराब में उस वक़्त भी धुत थे.

मैंने बहुतेरा कहा, 'अख़्तर साहब, ये आपकी अज़्मत के ख़िलाफ़ है.' लेकिन वाज़ (उपदेश) कह कर टाल दिया. इन्सान शराब पी कर भी जज़्बाती हो जाता है. वो रोये जा रहे थे और मैं परेशान हो रहा था. फ़र्माया :

'शोरिश! इन्सान पागल हो गया है. जमुना में सदियों से पानी बह रहा है. अब के देखा और महसूस किया जैसे उनकी आंखों का पानी बह गया है. सतलुज पर नज़र डाली, बेवा के सुहाग की तरह वीरान था. व्यास देखा, दोनों कनारों पर बेआस लोगों के डेरे उदास पड़े हैं. पांच दर्याओं का पानी ख़ून हो गया है शोरिश!'

वाक़िफ़ तो मैं उनसे 1932 या 1933 में हुआ था, लेकिन नियाज़मंदी के मर्हले बड़ी देर में तै हुए. 1945 का अख़ीर था. वो लाहौर ही में थे. कुछ दिनों के लिए टोंक से आए थे. जाते कहां? जिस चीज़ की उन्हें तलब थी वो आम थी. जंग ने और भी आम कर दिया था. दौलत भी लोगों के पास फट के आयी थी. कॉलेज के तलबा भी उनको चाहने वाले थे. उन तलबा के लिए काफ़ी था कि अख़्तर शीरानी के साथ फिरते हैं. इसी का नतीजा था कि अख़्तर का वुजूद हर चीज़ की नफ़ी (निगेटिव) हो गया और वो महज़ शराब हो के रह गए. सोते में पीना मुश्किल था. जब जागते, पीते और पीते चले जाते थे. सुब्ह व शाम की तमीज़ को उन्होंने ख़त्म कर दिया था. हर वक़्त धुत रहते. ज़ाहिर है कि हम जैसे लोग उससे ख़ुश न थे. लेकिन पिलाने वाले ख़ुश थे और वो ख़ुशी से पीते थे. हौसला ये था कि पी कर बहकते न थे. बग़ैर पिए बदन शल हो जाता था. हमारा ये हाल था कि हम उनके हाल से कन्नी कतराते थे. मैं उन दिनों अनारकली में नज़रबंद था और सात बरस की क़ैद काटकर रिहा हुआ था. मेरा मज़ाक़ व रास्ता मुख़्तलिफ़ था. उन्हें गाहे-गाहे मुहब्बत का तक़ाज़ा खींच लाता. फ़र्माते, 'लाओ जेब में क्या है?'

बोतल साथ रखते. नशा हल्का हुआ, कॉक खोला. ग़टाग़ट चढ़ा गए. पानी-वानी बिल्कुल नहीं मिलाते थे. किसी ने पूछा—ये क्या? फ़र्माया—एक ख़ुदा को मानने वाला हूं, दूसरे को शरीक नहीं करता :

क्या चीज़ हराम हो गयी है
अब इसमें पानी मिलाना शिर्क ही तो है!

नौजवानों की इन्हीं दावतों ने उन्हें ख़त्म कर डाला. वो उम्र के आख़िरी दिनों में शराब नहीं पीते थे, बल्कि शराब उन्हें पीती थी. लेकिन होश व हवास का ये आलम था कि कोई चीज़ भूलते नहीं थे. और न किसी मुआमले में चूकते थे.

अरब होटल में एक दफ़ा कुछ कम्युनिस्ट नौजवानों ने (जो बला के ज़हीन थे) उनसे मुख़्तलिफ़ विषयों पर बहस छेड़ दी. उस वक़्त तक वो दो बोतलें चढ़ा चुके थे और होशोहवास क़ायम न थे. तमाम बदन कांप रहा था. यहां तक कि अल्फ़ाज़ भी टूट-टूट कर ज़बान से निकल रहे थे. इधर अना (ईगो) का शुरू से ये हाल था कि अपने सिवा किसी को नहीं मानते थे. जाने क्या सवाल ज़ेरे-बहस था. फ़र्माया: मुसलमानों में तीन शख़्स अब तक ऐसे पैदा हुए हैं जो हर एतबार से जीनियस भी हैं और कामिल इन्सान भी. पहले अबुल फ़ज़्ल, दूसरे असदुल्लाहख़ां ग़ालिब, तीसरे अबुलकलाम आज़ाद. शाइर वो कम ही किसी को मानते थे. समकालीन शाइरों में जो वाक़ई शाइर था, उसे भी अपने से कमतर ख़याल करते थे. कम्युनिस्ट नौजवानों ने फ़ैज़ के बारे में सवाल किया, तरह दे गए. जोश के मुता'ल्लिक़ पूछा, कहा वो नाज़िम है. सरदार जा'फ़री का नाम लिया, मुस्करा दिये. फ़िराक़ का ज़िक्र छेड़ा, हूं-हां करके चुप हो गए. साहिर लुधियानवी की बात की. सामने बैठा था. फ़र्माया—इश्क़ कर दो. ज़हीर काश्मीरी के बारे कहा, नाम सुना है. अहमद नदीम क़ासिमी? फ़र्माया—मेरा शागिर्द है. नौजवानों ने देखा, तरक़्क़ीपसंद तहरीक ही के इन्कारी हैं, तो बहस का रुख़ फेर दिया.

'हज़रत, फ़ुलां पैग़ंबर के बारे में क्या ख़याल है?'

आंखें सुर्ख़ हो रही थीं, नशे में चूर थे. ज़बान पर क़ाबू नहीं था, लेकिन चौंक कर फ़र्माया, 'क्या बकते हो? अदब व इंशा (गद्य) या शे'रो-शाइरी की बात करो!'

किसी ने फ़ौरन ही अफ़लातून की तरफ़ रुख़ मोड़ दिया. उनके मुकालमों की बाबत क्या ख़याल है? अरस्तू और सुक़रात के बारे में सवाल किया. मगर उस वक़्त वो अपने मूड में थे. फ़र्माया: 'अजी ये पूछो कि हम कौन हैं? ये अफ़लातून, अरस्तू या सुक़रात आज होते तो हमारे हलक़े में बैठते. हमें उन से क्या कि उनके बारे में राय देते फिरें!' उस लड़खड़ाती गुफ़्तगू से फ़ायदा उठा कर एक ज़ालिम क़िस्म के कम्युनिस्ट ने सवाल किया, 'आप का हज़रत मुहम्मद स.व. के बारे में क्या ख़याल है?'

अल्लाह, अल्लाह. एक शराबी! जैसे कोई बिजली पड़ती हो. बिल्लौर का

गिलास उठाया और उसके सर पर दे मारा, 'बदबख़्त! एक गुनाहगार से सवाल करता है. एक सियाह रू से पूछता है? एक छोटे से क्या क़हलवाना चाहता है?'

तमाम जिस्म कांप रहा था. एकाएकी रोना शुरू किया. घिग्घी बंध गई. 'तुमने इस हालत में ये नाम क्यों लिया? तुम्हें जुर्अत कैसे हुई, गुस्ताख़, बेअदबः

बा ख़ुदा दीवाना बाशी बा मुहम्मद होशियार

इस शरीर सवाल पर तौबा करो. तुम्हारे अंदरुनी मैलेपन को समझता हूं.' ख़ुद क़हर व ग़ज़ब की तस्वीर हो गए. उस नौजवान का ये हाल था: काटो तो लहू नहीं बदन में....उसने बात को मोड़ना चाहा, मगर अख़्तर कहां सुनते थे! उसे उठवा दिया. फिर ख़ुद उठ कर चले गए. तमाम रात रोते रहे. कहते थे, ये लोग इतने निडर हो गए हैं कि हमारा आख़िरी सहारा भी हम से छीन लेना चाहते हैं! मैं गुनहगार ज़रूर हूं, लेकिन ये मुझे काफ़िर बनाना चाहते हैं.

उमूमन फ़र्माते कि ज़हानत ही उनकी उस्ताद है. कोई शाइरी में उनका उस्ताद नहीं रहा. अल्लामा ताजूर उन्हें अपना शागिर्द ज़ाहिर करते. कई जगह वो लिख भी चुके थे. मैंने अख़्तर से कई दफ़ा पूछा. इन्कार किया. ताजूर से कहा. कहने लगे ग़लत कहता है. हुस्ने-इत्तिफ़ाक़ से एक रोज़ मैं भी ताजूर के यहां था कि अख़्तर आ गए. शराब में ग़र्क़ थे. पहले तो इधर-उधर की बातें होती रहीं. फिर मैंने पूछ ही लिया, 'अख़्तर साहब, शाइरी में आपके उस्ताद कौन हैं?'

वो अल्लामा साहब से ठर्रे के लिए पैसे हथिया रहे थे. तरह दे गए. मैंने सवाल दोहराया. झुंझला के कहा, 'हर सवाल की अपनी जगह होती है. इस वक़्त क्या कथा ले बैठे हो?' मैंने इस्रार किया. ताजूर ने कहा, 'तो कहते क्यों नहीं?' भन्ना कर बोले, 'भाई! उस्ताद तो ताजूर साहब हैं, लेकिन वाक़िआ ये है कि शागिर्द उस्ताद से बाज़ी ले गया है.'

सलमा के बारे में यार लोगों ने बहुत कुछ लिखा है. जिन लोगों का उनसे क़रीबी ता'ल्लुक़ रहा है या जो उनके राज़दार हैं, वो इस बारे में कहते बहुत कुछ हैं, मगर इन सब अफ़सानों में तज़ाद (अंतर्विरोध) है. डॉ. आशिक़ बटालवी ने अर्सा होता है, 'अदबी दुनिया' में एक मज़्मून लिखा था कि ये लोग कहानियां बनाना छोड़ें. डॉ. साहब की राय में सलमा का कोई भौतिक वुजूद न था, बल्कि उनके ज़ेहन का एक ख़याली पैकर था.

ज़ाहिर है कि अख़्तर जिस तर्ज़ के रोमानी शाइर थे, उससे कुछ लड़कियां भी मुतास्सिर हुई थीं. वो उन्हें अक़ीदतन ख़त लिखती थीं. अख़्तर उन ख़ुतूत से इश्क़ वारिद कर लेते थे. ये तमाम सिलसिले ज़ेहनी थे. मान लीजिये, किसी सलमा ने उनसे मुहब्बत की है तो, जिन अदाओं के साथ उसका शाइरी में ज़िक्र किया है, वो तस्वीरें सलमा की नहीं हैं, बल्कि सब की सब ख़याली हैं.

 शेष

एक अर्से तक मैं उनके साथ रहा हूं. मुझे उनसे मुता'ल्लिक़ बहुत सी बातों का इल्म है. बाज़ बातें तहरीर के क़ाबिल हैं. और कुछ बातें तहरीर के क़ाबिल नहीं हैं. सलमा के बारे में भी मैंने बारहा सवाल किया. वो कुछ बताने से इन्कार करते रहे. फिर भी मेरा ख़याल अब जा कर पुख़्ता हुआ है कि सलमा का कोई वुजूद न था. उनकी शाइरी में सलमा इश्क़ व रोमान का एक ख़याली पैकर है. आम शाइरों की तरह वो अपने ख़याली महबूब या महबूबा से मुहब्बत करते थे. और इश्क़ के सफ़र में जो वारदात एक इन्सान को पेश आती हैं, अपने ऊपर ज़ेहनी तौरी पर तारी करके सलमा को पुकारते थे. पिछले दिनों एक दोस्त ने सलमा व अख़्तर के ख़ुतूत भी शाए' किये थे. किसी अदबी हलक़े ने उन्हें क़ाबिले-एतबार नहीं माना. मेरा अपना ख़याल है कि ये ख़ुतूत किसी दोस्त ने लिखे हैं या अख़्तर ने अपनी ख़्वाहिश को मुत्मईन रखने के लिए किसी पब्लिशर के लिए लिखे होंगे. अख़्तर की महबूबा का उनकी तरह फ़ारसी उस्तादों से असर लेते हुए और ख़ुतूत में तहरीर का बांकपन दिखाना एक ऐसी उपज है, जिसे अक़्ले-सलीम मानते हुए हिचकिचाती है.

अख़्तर के यहां कल्पना की मीनाकारी थोड़ी है, लेकिन अल्फ़ाज़ की मीनाकारी बहुत ज़्यादा है. इस एतबार से वो एक जौहरी हैं. शाइरी में उनका अपना ढंग ये था कि उन्होंने ईरानी रिवायतों को तोड़ा. लौंडों की जगह औरत को तरजीह दी. और दोनों तरफ़ के जज़्बात की अक्कासी व नक़्क़ाशी को बलंदी पर पहुंचाया. शाइर हमेशा अपना ही रोना रोते रहे हैं. उनके नज़दीक इश्क़ का मुआमला सिर्फ़ आशिक़ों की ज़ात है और वफ़ादारी की तमाम बड़ाइयां उन्हीं का हिस्सा हैं. महबूब उनके यहां एक संगदिल और बेवफ़ा जीव है, जिसका तौर ही आशिक़ का दिल दुखाना है. अख़्तर ने ये पाबंदी ही तोड़ डाली. उसने कहा, इश्क़ यकतर्फ़ा नहीं होता. आग दोनों तरफ़ लगती है. हुस्न भी इश्क़ चाहता है. दोनों पर रोज़ व शब बराबर गुज़रते हैं. विसाल व हिज्र दोनों के लिए हैं. दोनों वफ़ा की आर्ज़ू में जीते हैं और दोनों इस सफ़र में क़दम उठाते हैं. मंज़िल एक ही रहती है. रास्ते मुख़्तलिफ़ होते हैं. जिस इश्क़ को अख़्तर ने इख़्तियार किया, उसमें रक़ीब एक गाली है; इसलिए अख़्तर की शाइरी रक़ीब से जलन की शाइरी नहीं. वो इश्क़ व मुहब्बत के सीधे-सादे रास्ते पर चलता है जिससे वो मुहब्बत करता है, वो भी उसकी मुहब्बत में डूबा होता है. दोनों अपने-अपने जज़्बात की शिद्दत बयान करते हैं. ख़ूबी ये है कि वाक़िईयत से ज़्यादा क़रीब महसूस होती है.

'ए इश्क़! हमें बरबाद न कर' में ये शिद्दत या तास्सुर उनके सारे कलाम में मौजूद है. उनका ख़याल था कि हमारे शाइरों ने अपने महबूबों को रुस्वा किया है. उनकी जो तस्वीरें खिंची हैं, वो साबित करती हैं कि उन्हें एक ऐसी मख़्लूक़ से मुहब्बत है जो बेवफ़ा पैदा हुई. संगदिली का दूध पीया. उम्र भर हरजाई रही. और जब आशिक़ मर गया, तो उसकी क़ब्र पर क़हक़हे लगाये. फ़र्माते थे, जो आशिक़ अपने

महबूब के बारे में ये तसव्वुर पैदा करते हों, उनसे कोई महबूब क्योंकर मुहब्बत कर सकता है? ये तो इन्सानी फ़ितरत ही के ख़िलाफ़ है. वो उर्दू ग़ज़ल के बहुत बड़े हिस्से को फ़र्ज़ी और बनास्पती क़रार देते थे. फ़ारसी शाइरी के शैदा थे, लेकिन महबूब के बारे में उनका तसव्वुर अरबी या हिंदी था. उन्हीं दिनों साहिर लुधियानवी की नज़्म 'ताजमहल' का चर्चा आम था. नौजवानों को इस नज़्म ने ख़ासा मुतास्सिर किया. जिन दो, चार नज़्मों ने साहिर की शुहरत क़ाइम की, 'ताजमहल' उनसे सरे-फ़ेहरिस्त थी. अख़्तर सिरे से इस नज़्म ही के क़ायल न थे. साहिर उन दिनों उभर रहा था और अख़्तर पर आशिक़ था. ख़ुद सवाल किया कि इस नज़्म के बारे में आपकी राय क्या है? अख़्तर अल्फ़ाज़ के इंतिख़ाब में मुहतात, मगर बात कहने से रुकते नहीं थे. फ़र्माया, 'भाई! शाहज़हां मुमताज़ महल के लिए ताजमहल न बनाता, तो बुद्धू का आवा बनाता! मलिका का हुस्न, मौत के बाद, शाह के इश्क़ से जो मुतालबा कर सकता था, ये उसका इक़रार व एतिराफ़ है. ये इश्क़ का हुस्न को ख़िराज है. आपने शाहज़हां को बदनाम करके ख़ुद इश्क़ की तौहीन की है.'

मुशाअरों के शाइर न थे. न गला पाया था, न पढ़ने में 'आदाब अर्ज़' कह सकते थे. जंग के ज़माने में 'उठ साक़ी! उठ, तलवार उठा' एक ऐसी नज़्म कही जिसने मुल्क भर की अदबी फ़ज़ा को हिला डाला. देहली के मुशाअरे में पढ़ने लगे, तो पिट के रह गए. साग़र निज़ामी ने नूरानी गला पाया था. एक अज़ीम शाइर की अज़ीम नज़्म को पिटते देखा, तो ख़ुद पढ़ने के लिए हाथ से काग़ज़ छीन लिया. ऐसा रंग बांधा कि मुशाअरा लूट लिया. अब अख़्तर शीरानी देहली के फ़ातेह थे. जंग के ज़माने में मुशाअरे जंगी इमदाद का हिस्सा हो गए थे. कुछ नौजवानों ने रोज़ी का ज़रीआ बना लिया. अख़्तर ने शराब के लिए डोल डाला. हर महीने एकाध मुशाअरा रचाने लगे. ख़ुद टिकट बेचते. या कुछ नौजवानों से ये काम लेते. वो टिकट फ़रोख़्त करते. नाम उनका था. काम उनका. आमदनी अस्सी फ़ीसद ख़ुद खा जाते. बाक़ी रक़्म से अख़्तर के लिए शराब ख़रीद लाते. मगर मुशाअरा पढ़ने का ढंग उन्हें आख़िर वक़्त तक न आया.

पंजाब यूनिवर्सिटी के एक मुशाअरे में हूट हो गए. लोगों ने सख़्त विरोध किया और विरोध का सबब उनका शराब में चूर होना था. इस सदमे ने उन्हें हल्कान कर दिया. और यही सदमा जानलेवा साबित हुआ. शराब ने उन्हें हलाक कर डाला. उनकी शराबनोशी के बारे में ये रिवायत आम है कि इस रास्ते पर उन्हें जिगर (मुरादाबादी) लाये थे. ख़ुद भी कभी तस्लीम करते, कभी इन्कार कर देते थे. मगर उनके एक हमउम्र रिश्तेदार जो किसी स्कूल में टीचर हैं, इसकी तरदीद (खंडन) करते हैं. उनका बयान है और अख़्तर ने स्वीकार किया कि शराब का पहला जाम उन्होंने एक सफ़ेदरेश बुज़ुर्ग के हाथ से पीया जो एक मशहूर माहनामे के मालिक थे. हक़ीक़त

क्या है अल्लाह बेहतर जानता है, लेकिन वाक़िआ ये है कि नौजवानों ने शराब पिला-पिला कर उन्हें मार डाला. जिस बड़े बाप के बेटे थे, उनके ढब पर रहते, तो लाज़िमन उनके क़लम से और भी तवक़्क़आत (अपेक्षाएं) वाबस्ता की जा सकती थीं. वो नस्र व नज़्म दोनों पर क़ादिर थे. शाइरी ने उन्हें चमका दिया और वो भी शाइरी को चमका गए. नस्र (गद्य) ध्यान और मेहनत चाहती है. उससे शराब ने उन्हें महरूम कर दिया. मज़ाक़ (सुरुचि) इतना शुस्ता (परिमार्जित) पाया था कि थोड़े लोग उतना गंभीर मज़ाक़ रखते हैं. लिखावट इतनी उम्दा थी कि जैसे मोती पिरोये हों. अल्फ़ाज़ बड़ी एहतियात से बोलते थे.

कुछ लफ़्ज़ों से मुहब्बत करते थे. कुछ लफ़्ज़ों से उन्हें इश्क़ था और कुछ के इस्तेमाल को हल्का समझते थे. उनके नज़दीक बोझल अल्फ़ाज़ का इस्तेमाल सख़्त नागवार था. वो रेशमी अल्फ़ाज़ को तरजीह देते थे. फ़र्माते थे : अल्फ़ाज़ में दोशीज़गी (कंवारापन) न हो या वो संगीन हों, तो मेरा क़लम उन्हें क़बूल नहीं करता. क़ौल ये था कि मैं अल्फ़ाज़ के इंतिख़ाब और धुनों के इंतिख़ाब में कोई फ़र्क़ नहीं करता. जिस तरह बाज़ धुनें रसीली नहीं होतीं और कानों को बुरी लगती हैं, उसी तरह बाज़ अल्फ़ाज़ नशीले नहीं होते, उनसे तबीअत इन्कार करती है.

एक रोज़ लफ़्ज़ों के हुस्न और बदसूरती पर देर तक गुफ़्तगू करते रहे. फ़र्माया, हर लफ़्ज़ के इस्तेमाल का एक मौक़ा होता है. मसलन ग़म के नोहे और शादी के नग़्मे के अल्फ़ाज़ एक दूसरे की जगह नहीं ले सकते हैं. इसी तरह ग़ज़ल के अल्फ़ाज़ और नज़्म के अल्फ़ाज़ में फ़र्क़ है. दोनों का मिज़ाज भी मुख़्तलिफ़ है. बाज़ लोग जो नज़्म की तबीअत ले कर पैदा होते हैं, ग़ज़ल कहने लगते हैं, तो उनकी तबीअत खुलती नहीं. मालूम होता है कि शादी में मर्सिया पढ़ रहे हैं. अल्फ़ाज़ भी लिबास ही की ख़ासियत रखते हैं. औरत और मर्द के लिबास में जो फ़र्क़ है वही ग़ज़ल और नज़्म के लिबास में है. फिर ज़रूरी नहीं कि हर औरत के लिए एक-सा लिबास या हर मर्द को एक-सा लिबास सजता हो. शक्ल व सूरत, क़दो-क़ामत और बाज़ दूसरी विशेषताएं ऐसी हैं जो हर शख़्स के लिबास को तय करती हैं. फ़र्माया: मैंने भी नज़्में कही हैं, लेकिन मेरी नज़्मों में और एक नाज़िम के कलाम में वाज़ेह फ़र्क़ वाज़ेह (स्पष्ट) हो जाता है. मसलन जोश (मलीहाबादी) ही को ले लीजिये अल्फ़ाज़ की आढ़त करता है, मगर जौहरी नहीं.

ये मरज़ शाइरों में आम है कि समकालीन फ़ितने का शिकार हो जाते हैं. थोड़े ही लोग फ़राख़दिल होते हैं. नौजवान पौध में ये मरज़ तो नहीं है, लेकिन वो एक दूसरे की तारीफ़ करते रहते हैं. उन्हें बाज़ नौजवानों की सलाहियतों का इक़रार था और वो उनके क़लम की तारीफ़ करते थे. मगर ख़याल उनका ये था कि इस पौध से कोई

बड़ा शाइर नहीं उठेगा. वो अदब-बराए-अदब के क़ायल थे. फ़र्माते: शाइरी सियासी अस्लहा नहीं कि हम दिमाग़ी तौर पर मार्च करते रहें या ज़ुल्म व नाइंसाफ़ी से लड़ाई बांध कर अदब को क़त्ल कर दें. शाइरी फ़ुनूने–लतीफ़ा (ललित कलाएं) की रूह है. सियासी शाइरी में उनके नज़दीक सबसे बड़ा शाइर ज़फ़रअलीख़ां था. उनकी बदीहा-गोई (त्वरित कहना) के बेहद क़ायल थे. जिस ज़माने में ज़फ़रअलीख़ां लाहौर के तरफ़दारों से चौमुखी लड़ रहे थे, अख़्तर शीरानी मौलाना की फ़ौज के हरावल दस्ते में थे और अक्कास के क़लमी नाम से बाज़ मारिके की नज़्में कही थीं. अफ़सोस कि ये नज़्में किसी शख़्स ने जमा नहीं कीं और न किसी के पास शायद कोई नक़्ल है.

सालिक, तासीर, पतरास, हफ़ीज़, मजीद मलिक, तबस्सुम वग़ैरह की अहले-ज़बान पर लश्करकशी का अदबी नाम 'नियाज़मंदाने-लाहौर' था. दिल्ली व लखनऊ के अहले-क़लम से उनकी ख़ूब मुठभेड़ हुई. पंजाब में सीमाब अकबराबादी को टिकने न दिया. ताजूर से महाज़ बांधा. एहसान दानिश का रास्ता रोका. अख़्तर शीरानी को परेशान किया. उनके सामने सिर्फ़ हफ़ीज़ था. अहले-ज़बान हफ़ीज़ पर हमलावर हुए. लाहौर के नियाज़मंद जवाब में उन्हें चिथोड़ते थे. घाव उनका भी तेज़ था और उनका भी गहरा था. इन्क़िलाब की वजह से नियाज़मंदाने-लाहौर ज़फ़रअलीख़ां से भिड़ गए. जिससे ताजूर और अख़्तर ख़ुद-ब-ख़ुद मौलाना की सफ़ में चले गए. दोनों ने उस लड़ाई में तन्ज़िया नज़्में कहीं. अख़्तर, हफ़ीज़ को शाइर कहां मानते थे? तासीर के तबअन ख़िलाफ़ थे.

अपने इस नज़रिये पर वो उम्र भर डटे रहे कि पतरस या तासीर बड़े अच्छे उस्ताद हैं, लेकिन शाइर या अदीब नहीं. उनका ख़याल था कि इन लोगों में गुफ़्तगू करने का जो सलीक़ा है, उसकी आड़ में इन्होंने ख़्वाहमख़्वाह अपनी अदबी हैसियत पैदा कर ली है.

एक दफ़ा इसी अंदाज़ में कई शाइरों और अदीबों पर तब्सिरा कर रहे थे. मैंने अर्ज़ किया, 'अख़्तर साहब, ये नुक़्स तक़रीबन हर बड़े आदमी में रहा है कि वो अपने वक़्त और फ़न के दूसरे बड़े आदमी यानी समकालीन को स्वीकार नहीं करता.'

एक पल के लिए ख़ामोश हो गए. फिर मौज़ू' बदल कर कहा, 'आप उनकी अज़्मतों का एतिराफ़ कीजिए. आपसे किस ने कहा कि जो कुछ मैं कह रहा हूं, वही क़तई है. अपने-अपने मज़ाक़ की बात है. महज़ बांस पर चढ़ा देने से तो कोई आदमी बड़ा नहीं हो जाता? मैंने किसी पर अपनी राय थोपी नहीं. महज़ हक़ीक़त बयान कर रहा था.'

'जी हां! मैंने भी जो है, वो बयान किया है कि आलिम, अदीब व शाइर अपने-अपने फ़न के बारे में तो सही राय देते हैं, लेकिन अपने समकालीनों के बारे में कभी सही नहीं कहते. उनमें चश्मक (वैर) होती है. मैंने अर्ज़ किया, ये बहस ही ऐसी

थी कि हम एक दूसरे की राय को बलंद करने से क़ासिर (असमर्थ) थे. एक बड़े के तौर पर उनका ईगो कमाल पर था. नौजवान उन पर टूटे पड़ते थे.

अब तक शाइर सिर्फ़ आशिक़ों के तर्जुमान (प्रवक्ता) रहे थे, लेकिन जिस ख़ूबी के साथ अख़्तर ने हसीनों की तर्जुमानी की, वो उन्हीं का हिस्सा था. नतीजतन उनके आशिक़ों में हसीन भी शामिल हो गए थे, बल्कि उनके चाहने वाले ही हसीन थे. उनके गिर्दो-पेश अक़ीदत व एहतिराम का एक ऐसा हाला बन गया था कि उन्हें टोकने और रोकने वाला कोई न था. सब परस्तार (भक्त) व तलबगार थे.

आख़िर 9 सितम्बर, 1948 को ये अज़ीम रोमानी शाइर मेयो अस्पताल में दम तोड़ गया. छह, सात रोज़ मौत व ज़िंदगी की कशमकश में मुब्तला रहा. जो नौजवान पिलाते रहे थे, जब देखा कि मौत उनके पीछे लगी है और :

जी का जाना ठहर गया है, सुब्ह गया या शाम गया

तो एक, एक करके घर गए. नय्यर वास्ती अख़्तर के जिगरी दोस्त थे. उन्होंने बड़े जतन किये, लेकिन हवा का मुट्ठी में थामना ही क्या? अख़्तर बहुत पहले मर चुके थे. अब एक लाचार जिस्म रह गया था, जो आख़िरी हिचकियों का पाठ ख़त्म कर रहा था. घड़ी आ गयी. मरीज़ ने अलविदा कहा. दो रोज़ तक लाश सर्दख़ाने (मोर्चरी) में पड़ी रही. रेडियो ने भी बहुत कुछ कहा. अख़बारों ने भी क्या कुछ नहीं लिखा? लेकिन 11 सितम्बर को जब उन्हें दफ़्न करना था, पाकिस्तान को सबसे बड़ा अलमीया (ट्रेजडी) पेश आया. क़ायदे-आज़म (जिन्नाह) वफ़ात पा गए. मस्ती दरवाज़े से जनाज़ा उठा. मिस्रीशाह के पुल तक कांधों पर लाया गया. 15 से ज़्यादा आदमी साथ न थे. नय्यर वास्ती, कुछ उनके मुलाज़िम, 'आईना-ए-अदब' के सलाम. क़मर तस्कीन, शोरिश काश्मीरी और उसके दो चार दोस्त. रास्ता लंबा था. जनाज़ा मिस्रीशाह के पुल से गाड़ी में लाद कर मियानी साहब के क़ब्रिस्तान में पहुंचा दिया गया. वहां मोटर पर ताजूर और एहसान खड़े थे. जनाज़े की नमाज़ पढ़ कर वो भी चले गए. दूसरे दिन उर्दू के एक बड़े रोज़नामे की पुश्त के आख़िरी कॉलम की एक मुख़्तसर सी ख़बर में दर्ज था :

अख़्तर शीरानी दफ़्ना दिये गए

लाहौर, 11 सितम्बर. आज मियानी साहब के क़ब्रिस्तान में उर्दू के मशहूर रोमानी शाइर अख़्तर शिरानी को दफ़्ना दिया गया. उनके जनाज़े में लाहौर के तमाम शाइर अदीब, सहाफ़ी और नाशिर शरीक थे. जब उन्हें क़ब्र में उतारा गया, तो तलबा व तालबात का एक हुजूम जो अक़ीदत के तौर पर जनाज़े के हमराह था, अश्कबार हो गया. अहले-क़लम ने आंसुओं के साथ एक रफ़ीक़े-क़लम को मिट्टी देते वक़्त आख़िरी हदियः ए-सकाफ़त पेश किया. ❑

(सौ बरस, देहली, मई 1976 – बशुक्रियाः ख़लील तनवीर, उदयपुर)

ए इश्क़ हमें बरबाद न कर!

अख़्तर शीरानी

ए इश्क़ हमें बरबाद न कर, हम भूले हुओं को याद न कर
पहले ही बहुत नाशाद हैं हम, तू और हमें नाशाद न कर (खिन्न)
क़िस्मत का सितम ही कम तो नहीं ये ताज़ा सितम ईजाद न कर

यूं जुल्म न कर बेदाद न कर
ए इश्क़ हमें बरबाद न कर!

जिस दिन से मिले हैं, दोनों का सब चैन गया आराम गया
चेहरों से बहारे-सुब्ह गई आंखों से फ़ुरोग़े-शाम गया (ज्योति)
हाथों से ख़ुशी का जाम छूटा, होंटों से हंसी का नाम गया

ग़मगीं न बना नाशाद न कर
ए इश्क़ हमें बरबाद न कर!

वो राज़ है ये ग़म, आह जिसे पा जाए कोई तो ख़ैर नहीं
आंखों से जब आंसू बहते हैं, आ जाए कोई तो ख़ैर नहीं
ज़ालिम है ये दुनिया दिल को यहां भा जाए कोई तो ख़ैर नहीं

है जुल्म मगर फ़र्याद न कर
ए इश्क़ हमें बरबाद न कर!

दुनिया का तमाशा देख लिया, ग़मगीन-सी है बेताब-सी है
उम्मीद यहां इक वहम-सी है, तस्कीन यहां इक ख़्वाब-सी है (तुष्टि)
दुनिया में ख़ुशी का नाम नहीं, दुनिया में ख़ुशी नायाब-सी है (दुर्लभ)

दुनिया में ख़ुशी को याद न कर
ए इश्क़ हमें बरबाद न कर!

❑

सॉनेट

अख़्तर शीरानी

तासीर

मैंने इक नग़मा सुनाया था तिरी महफ़िल में!
ऐसी हालत में कि था साज़े-शिकस्ता मेरा
यानी तारे-नफ़स आवाज़े-शिकस्ता मेरा (सांस का तार)
दिल का ख़ून आंख में था, आंख के आंसू दिल में!
मैंने देखा कि तिरे दिल पे असर तक न हुआ!
मेरी फ़र्यादे-हज़ीं, ख़्वाब-परेशां ही रही (दुःख की फ़र्याद)
दिल में उम्मीद जो थी यास बदामां ही रही (दामन से लिपटा नैराश्य)
रहम का तेरी निगाहों में गुज़र तक न हुआ!
साज़ को फेंक दिया बा-दिले-ग़मगीं मैंने
उस के तारों ने कभी फिर न सुनाया नग़मा
नाउम्मीदी से कोई लब पे न आया नग़मा
गरचे कितने ही लिखे नग़म-ए-ख़ूनीं मैंने!
आज हैरत मगर एक जां मुझे इस राज़ पे है
अपनी आवाज़ का धोका तिरी आवाज़ पे है!

❑



डॉ. अब्दुल अलीमः शहरे-लखनऊ से चंद बेतर्तीब हवाले

शकील सिद्दीक़ी

डॉ. अब्दुल अलीम जिन्हें कमाल अहमद सिद्दीक़ी साहिबगर, मुअल्लिमे-अव्वल, अहमद जमाल पाशा 'उर्दू का मुग़ले-आज़म कहा करते थे और हज़रात न जाने क्या-क्या, तआरुफ़ के मुहताज नहीं, फिर भी उनके न रहने के बाद जो नस्लें जवान हुईं, जिनका अपने मुल्क की तारीख़, क़ौमी लड़ाई, अवामी जद्दोजहद और नज़रियाती तहरीकों व नेशनल मूवमेंट में मुख़्तलिफ़ सियासी पार्टियों के रोल, इलावा इनके जंगे-आज़ादी के कई धारों में दिलचस्पी कम रही. हालांकि उनमें ऐसे लोगों की तादाद काफ़ी है, जो गहरी अदबी दिलचस्पी रखते हैं और बेहतरीन तख़्लीक़ी सलाहियतों के मालिक हैं. फिर ये हुआ कि तरक़्क़ीपसंद तहरीक और नज़रिये की मुल्कगीर मक़बूलियत के बाद अलग-अलग ज़बानों में तरक़्क़ीपसंद अदीबों ने अपने-अपने आयडियल्स चुन लिए. इस वजह से तहरीक की बुनियाद डालने, अंजुमन- तरक़्क़ीपसंद मुसन्निफ़ीन की पहली शाख़ क़ायम करने, दस्तूर बनाने, दीगर सूबाई ज़बानों में मक़बूलियत दिलाने और तरक़्क़ीपसंद अदब का दलीलों के साथ ख़ुलासा करने वाले बड़े लोग पीछे चले गए और नए हीरो पैदा हो गए, जिनका दावा था कि तहरीक उन्हीं की वजह से ज़िंदा है. हम वही हैं जिन्हें ज़ुल्मों की सलीब पर लटकाया गया और हमीं ने क़ैदो-बंद की आज़माइशें बरदाश्त की हैं.

ख़ुद उर्दू अदब में भी इन सिपाहसालारों के बारे में जानकारी कम-कम है. इन हालात में सूरज को चराग़ दिखाने की मजबूरी से दो-चार होना पड़े, तो अफ़सोस मत कीजिएगा, क्योंकि अभी हमें ऐसे बहुत-से तकलीफ़देह मर्हलों से गुज़रना है. ये हम सब के लिए एक मौक़ा है कि इन तमाम सिपाहसालारों की सौवीं वर्षगांठ तक़रीबन एक साथ आ रही हैं. हमें इस मौक़े का भरपूर फ़ायदा उठाने की कोशिश करनी चाहिए. मुझे याद आता है कि जब हम लखनऊ में 1986 मे तरक़्क़ीपसंद तहरीक की

गोल्डन जुबली मनाने की तैयारी कर रहे थे, तब अलीम साहब की बहुत याद आयी थी. ज़ाहिर-सी बात है कि सज्जाद ज़हीर, अहमदअली, महमुदुज़्ज़फ़र और रशीदजहां की भी, लेकिन अलीम साहब का मुआमला कुछ अलग था. मैंने इस मौक़े पर माहनामा "किताब" में अर्सा पहले शाए' हुए डॉ. अलीम के एक लंबे इंटरव्यू को हिंदी में मुंतक़िल करने का फ़ैसला किया था. वो इंटरव्यू 'वसुधा' के जुबली नंबर में शाए' हुआ, हालांकि नामवरसिंह उसे 'आलोचना' में छापना चाहते थे, लेकिन वो 'वसुधा' को दिया जा चुका था. मैं यहां ये बताता चलूं कि पिछले बरसों में प्रगतिशील लेखक संघ ने सज्जाद ज़हीर के सौवें जन्मदिन को पूरे मुल्क में मनाने का जो आयोजन किया, उसके पीछे डॉ. नामवरसिंह की पहल ख़ास अहमियत रखती है.

बहरहाल, मैं पीडब्लूए की गोल्डन जुबली की बात कर रहा था. मैं तैयारी कमेटी का एक मेंबर था. मेरे ज़िम्मे ये काम भी किया गया कि मैं हिंन्दुस्तान की तमाम ज़बानों के तरक़्क़ीपसंद अदीबों की तस्वीरों की नुमाइश का इंतिज़ाम करूँ. ये मुश्किल काम था, क्योंकि तरक़्क़ीपसंद तहरीक के अस्सी साल गुज़र जाने के बाद अभी तक ऐसी कोई फ़ेहरिस्त तैयार नहीं हो सकी है. फिर भी मैंने जितना हो सकता था, उतनी ज़बानों के तरक़्क़ीपसंद अदीबों की तस्वीरें जमा कीं. डॉ. अलीम की तस्वीर के लिए मैंने आबिद सुहैल साहिब से राबिता क़ायम किया. हम लोगों ने यह फ़ैसला भी किया था कि अब तक के तमाम सेक्रेटरियों की तस्वीरें इस मौक़े पर छपने वाली किताब में शाए' की जायें.

आबिद सुहैल साहिब ने जो तस्वीर दी, उसे शाए' किया गया, इसे ही इन्लार्ज कराकर नुमाइश में भी लगाया गया. उनकी शख़्सियत की सारी फ़िक्रअंगेज़ी और कशिश इस तस्वीर में मौजूद है. फिर यह तस्वीर ही उनकी शनाख़्त बन गई. यही तस्वीर साहित्य अकादमी के मोनोग्राफ़ के कवर पेज़ पर भी शाए' हुई है और यहां के दावतनामा पर भी.

लखनऊ के हवाले से उन पर बात करते हुए मुझे शिद्दत से अपनी ज़िन्दगी के वो क़ीमती लम्हात याद आते हैं. जब मुझे पहली बार उन के नियाज़ हासिल करने का मौक़ा मिला. 1961-62 की कोई तारीख़ थी. अलीम साहिब की छोटी बहन मुहतरमा हमीदा बेगम की छोटी बेटी हलीमा जिन्हें मैं बाजी कहा कहता था, के निकाह की तक़रीब थी. उसमें शरीक होने की ग़रज़ से अलीम साहिब अलीगढ़ से लखनऊ तशरीफ़ लाए हुए थे. उन दिनों मैं अपने वालिदैन और दूसरे बुजुर्गों के साथ जिस मकान में रहता था, वह समी मंज़िल के नाम से मशहूर है और बाग़े-क़ाज़ी के क़रीब मुर्तुज़ा हुसैन रोड पर वाक़े है. इसी समी मंज़िल में हलीमा बाजी के निकाह की तक़रीब होनी थी. बहुत सादगी के साथ. शादी में अलीम साहब के आने का ज़िक्र मेरे घर में कई दिन से था. ख़ास तौर पर मेरी वालिदा अक्सर उन का ज़िक्र करतीं. अलीगढ़ मुस्लिम

यूनिवर्सिटी के वाइस चांसलर हैं. ग़ाज़ीपुर के रहने वाले हैं. गोरखपुर में ससुराल है. समी मंज़िल के पीछे वाले मकान में रह रही, हम सब की मुंह बोली ख़ाला जान के सगे भाई हैं और ख़ुदा, रसूल को न मानने वाले कम्युनिस्ट हैं.

ये सब सुन कर उन्हें देखने का मेरा शौक़ बेक़रारी में तब्दील हो गया. इस बेक़रारी में इण्टरवेल में ही स्कूल से भाग आया. मैं उस वक़्त आठवीं कक्षा का तालिबे-इल्म था. समी मंज़िल और ख़ाला जान के मकान के दरमियान एक छोटा-सा मैदान था. वहीं अलीम साहिब एक कुर्सी पर दराज़ थे. ख़ला की तरफ़ देखते और गहरी सोच में डूबे हुए. शेरवानी, पाजामा में मल्बूस, सर पर गांधी टोपी, ठुड्डी पर फ्रेन्चकट दाढ़ी ग़ालिबन दायें हाथ की दो उंगलियों के बीच कराहती हुई सिगार. मैंने सलाम अर्ज़ किया, तो सर की हल्की-सी जुंबिश से ज़वाब दिया और बस, इतना पूछा कि किस के बेटे हो? जवाब सुनने के बाद फिर ख़ला में घूरने लगे, मैं हैरतभरी निगाहों से उन्हें इस तरह देखता रहा था जैसे वे कोई अजूबा हों. तब आबिद सुहैल साहिब अहमद अली की कोठी के क़रीब टक्साल में रहा करते थे. इससे पहले अलीम साहब हमीदा बेगम के बड़े साहिबज़ादे यानी अपने बड़े भानजे अब्दुल रहमान की शादी ख़ानाआबादी की तक़रीब में भी तशरीफ़ लाए थे, जो डॉ. अब्दुलक़वी ज़िया की बड़ी बहन की बेटी के साथ बतौर-लव मैरिज हुई थी, लेकिन तब लखनऊ में न होने की वजह से मैं उन के नियाज़ हासिल करने से महरूम रहा था. रहमान भाई बताते हैं कि लखनऊ यूनिवर्सिटी में तक़र्रुरी के बाद कुछ अर्सा समी मंज़िल में भी उनका क़ियाम रहा. यहीं से वो नील रोड वाक़े' शेर कोठी में मुंतक़िल हुए. समी मंज़िल इस लिहाज़ से उनकी ज़िन्दगी का बहुत अहम हिस्सा है कि इसी के पीछे उनकी दूसरी बहन वहीदा बेगम की भी रिहाइश थी, जहां ज़्यादतर उनकी वालिदा का भी क़ियाम रहता था. छोटी बहन हमीदा बेगम ने तो एक तवील अर्सा यहां गुज़ारा. आबिद सुहैल तो कम, लेकिन उनकी वालिदा, उनके छोटे भाई इमरान उनकी बहुत प्यारी बहन नजमा जिसे मर्हूमा कहते कलेजा मुंह को आता है, का अक्सर यहां आना होता, इसी बहाने ये सब लोग हमारे घर भी आते, अलीम साहब के दीगर अज़ीज़ों का भी आना रहता.

3 अप्रैल, 1941 को डिफ़ेन्स ऑफ़ इण्डिया रूल्स के तहत गिरफ़्तारी के बाद उनकी बेगम ज़्यादातर यहीं रहीं. इशरत अली सिद्दीक़ी साहब के साथ यहीं से वह अपने शौहर से मुलाक़ात करने की ग़रज़ से आगरा जेल गईं.

यहीं से वो इशरतअली सिद्दीक़ी साहिब के साथ ही देवली कैम्प भी गईं. सन् 40-42 का ज़माना देखिए और अलीम साहब की अहलिया का एक ग़ैर मर्द के साथ आगरा और देवली जाना देखिए. तब तक अलीम साहब और इशरत साहब के बीच बाक़ायदा रिश्तेदारी क़ायम नहीं हुई थी. कोई पुरातनपंथी शौहर भला इसे क्यों पसंद

करता ! आगरा सफ़र के दौरान तो बेगम अलीम उम्मीद से थीं और उनके इकलौते साहिबज़ादे जनाब हलीम बस वारिद ही होने वाले थे, तो लखनऊ और समी मंज़िल को उनकी ज़िन्दगी के हवाले से ये शरफ़ (सौभाग्य) भी हासिल हुआ.

अब सफ़र का हाल सुनिए, जैसा इश्रत साहिब फ़रमाते हैं कि वो मर्दाना डिब्बे में और अलीम साहब की अहलिया ज़नाना डिब्बे में. जब किसी स्टेशन पर गाड़ी देर तक रुकने को होती, इश्रत साहब अपने डिब्बे उतर कर ज़नाना डिब्बे की तरफ़ जाते और एक खिड़की के सामने पीठ करके खड़े हो जाते. बेगम अलीम को किसी चीज़ की ज़रूरत होती, तो कहला देतीं. अलीम साहिब की क़ैद के दौरान इश्रत साहिब किस तरह से उन के घर वालों की मदद कर रहे थे, यह तफ़्सील उनके क़द को बहुत ऊंचा कर देती है. बेगम अलीम अपनी बच्चियों की पढ़ाई को लेकर बहुत परेशान थीं. इश्रत साहिब ने उन्हें ख़ुद पढ़ाने का बीड़ा उठाया. वो साइकिल से बच्चियों को पढ़ाने के लिए समी मंज़िल आते.

दूसरी ज़रूरतों का भी ख़याल रखते. इश्रत साहिब के मुताबिक़ अलीम साहिब के ज़्यादातर अज़ीज़ों ने गिरफ़्तारी के बाद उन्हें तनहा छोड़ दिया था. आबिद सुहैल तब बहुत छोटे रहे होंगे. मैं तो तब पैदा भी नहीं हुआ था.

इसी समी मंज़िल के पीछे वाले मकान में अलीम साहिब की वालिदा का इन्तिक़ाल हुआ—यानी अपनी बेटियों के घर में. ख़ुद अलीम साहिब की दो बेटियां यहां से दो अलग फ़ासलों पर बहू बन कर आईं. एक आबिद सुहैल साहब की ससुराल में, दूसरी मशहूर ताजिर यूसुफ़ साहिब के घर में. छोटी बेटी वसीमा के लहीम-शहीम शौहर और बेटे का कुछ अर्सा पहले उनके नौकरों ने ही बड़ी बेरहमी से क़त्ल कर दिया. बेटी वसीमा तो पहले ही इन्तिक़ाल फ़रमा चुकी थीं. उस घर में कोई चराग़ जलाने वाला भी नहीं रहा.

लखनऊ में अलीम साहिब ने चार मक़ामात पर सुकूनत इख़्तियार की. समी मंज़िल, शेर कोठी, कुइन्टन रोड जिसे आबिद सुहैल साहिब ने मोनोग्राफ़ में वाला क़दर रोड लिखा है और बनारसी बाग़ में जहां यूनिवर्सिटी की डेलीगेसी हुआ करती थी. इत्तिफ़ाक़ से कुइन्टन रोड वाले मकान के क़रीब ही आले अहमद सुरूर साहिब और डॉ. रशीदजहां की भी रिहाइश थी और उनका दवाख़ाना भी. अप्रैल 1936 में तरक़्क़ीपसंद मुसन्निफ़ीन की पहले कान्फ्रेन्स में शिरकत की ग़रज़ से वह अलीगढ़ से लखनऊ तशरीफ़ लाए थे. और किस आनोबान के साथ आए थे, ये सज्जाद ज़हीर के अलफ़ाज में सुनिए :

'डॉ. अब्दुल अलीम अपने साथ संजीदगी ले आए. डॉ. अलीम हालांकि हमारे हमउम्र थे और बर्लिन यूनिवर्सिटी के पीएच.डी., लेकिन अपनी बाक़ाइदा कतरी हुई तिकोनी दाढ़ी, खद्दर की क़लफ़ लगी टोपी और शेरवानी, गोल चेहरा और गोरा रंग,

तौल-तौल कर क़दम रखना, एहतियात से बात करना उन में एक मौलवीयाना अंदाज़ पैदा कर देता है.'

कान्फ्रेन्स के तमाम कामों, ख़ास तौर पर पेश की जाने वाली क़रारदादों और फ़र्मान से उन्होंने कितनी गहरी दिलचस्पी ली, उसके भी कुछ इशारे रौशनाई में मौजूद हैं. कान्फ्रेन्स ख़त्म होने के बाद जब आयोजक और कारकून प्रेमचन्द के साथ बातचीत कर रहे थे, तब रशीदजहां ने उनकी तिकोनी दाढ़ी की, मौलाना हसरत मोहानी की दाढ़ी से तुलना करते हुए कैसे लुत्फ़ पैदा करने की कोशिश की थी, आप हज़रात इससे वाक़िफ़ ही होंगे. बावजूद इसके रशीदजहां के लिए उन के दिल में जो जगह थी, उसमें ज़रा फ़र्क़ नहीं आया. एक मौक़े पर उन्होंने उनका ज़बरदस्त बचाव किया. कान्फ्रेन्स के दूसरे दिन उन्होंने अपना पर्चा 'अदब का मुस्तक़बिल' पेश किया. वो तो कहिए कि रशीदजहां को उस पर्चे या लिखने वाले से कोई शिकायत नहीं थी, वर्ना अहमद अली के पर्चे का तो उन्होंने ख़ूब मज़ाक़ उड़ाया था.

ये सेहरा भी लखनऊ के ही सर जाता है कि अपने तरक़्क़ीपसंद अदबी व सियासी नज़रीयात को उन्होंने यहीं ठोस शक्ल दी. संतुलन उनकी ख़ुसूसीयत थी. इन्तिहापसंदी को चाहे वे नज़रीयाती हो या मज़हबी, उन्होंने सिरे से रद्द किया. नारेबाज़ी और ख़तीबाना अंदाज़ को अदब के लिए नुक़्सानदेह बताया. असहमतियों के तईं तख़्लीक़ी रवैया अपनाने पर ज़ोर दिया. यहीं उन्होंने तरक़्क़ीपसंद अदब की जामे' तशरीह की. उर्दू सहाफ़त के ख़द्दोख़ाल दुरुस्त किए. अगर आबिद सुहैल साहिब के दावे को दुरुस्त मान लिया जाए, तो 'अंगारे' पर उन्होंने तब्सिरा भी किया.

एक तरह से यही वह मक़ाम है, जहां से उन्होंने ये बताने का आग़ाज़ किया कि बेहतर ज़िन्दगी के लिए तरक़्क़ीपसंद होना लाज़िमी क्यों है? वो तन्क़ीद में दियानतदारी और निजी आज़ादी के भी क़ायल थे. रिवायत और नएपन के हसीन मेल के वो बेहतरीन नमूना थे. कोई रिहाइशगाह कैसे अदबी तहरीक का मर्कज़ बन जाती है, ये उनके मकान पर होने वाली अंजुमन की बैठकों ने साबित किया. ऐसा दूसरा मर्कज़ सुरूर साहब का मकान था.

वह लखनऊ ही में थे, जब पंडित नेहरू और रफ़ी अहमद क़िदवाई ने लखनऊ से वीकली 'हिन्दुस्तान' जारी किया. जिसके वे मैनेजिंग डाइरेक्टर मुक़र्रर हुए. ये अख़बार उनके नील रोड वाले मकान से ही निकलता था. वे इस में सियासी व अदबी उमूर पर मज़ामीन लिखने थे. 'दुनिया का हाल' कॉलम जो बाद में इश्रतअली सिद्दीक़ी साहिब के नाम से बहुत मशहूर हुआ, उन्हीं का शुरू किया हुआ है. ऑल इण्डिया रेडियो से भी उनकी तक़रीरें नश्र होती थीं.

हयातुल्लाह अंसारी 'हिन्दुस्तान' के एडिटर थे. इश्रत अली सिद्दीक़ी, मो. हसन क़िदवाई और मसीहुल हसन रिज़वी साहिबान उनके सहायकों में थे. एडिटोरियल बोर्ड

के इस स्ट्रक्चर से शायद हयातुल्लाह अंसारी साहिब मुत्मईन नहीं थे. डॉ. अलीम और उनके दरमियान एक सर्द जंग चलती रहती थी. इस तरह उनकी बहुआमामी शख़्सियत का सहाफ़ती पहलू न सिर्फ़ यहां उभर कर सामने आया, बल्कि उसने कई चराग़ रौशन किए.

1939 में माहनामा 'नया अदब' और अंग्रेज़ी में 'इण्डियन लिट्रेचर' की इशाअत का सिलसिला उनकी रहनुमाई में ही शुरू हुआ. 'नया अदब' में उनके मौज़ूआती इदारिये ख़ास तौर पर बहुत मक़्बूल हुए. तारीख़ी अहमियत और तरक़्क़ीपसंद तहरीक में एक संग-ए-मील की हैसियत रखने वाले इन दोनों जरीदों के दफ़्तर अलीम साहिब के मकान में ही थे. इस तहरीक से उनका गहरा जुड़ाव और डैडिकेशन का अंदाज़ा लगाया जा सकता है.

डॉ. अलीम दोनों ज़बानों में लिखते थे, लेकिन दोनों के मौज़ूआत अलग-अलग होते थे. लिखने के इलावा दोनों जरीदों की एडिटिंग और इंतिज़ामी ज़िम्मेदारी भी अक्सर वही पूरी करते. दूसरी तरफ़ 'इण्डियन लिट्रेचर' को लेकर सरकारी रवैया ठीक नहीं था.

उसे इसकी इशाअत मन्ज़ूर नहीं थी. सी.आइ.डी. ने रिपोर्ट दी थी कि इसका रिश्ता कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल से जुड़ा हुआ है. यही वजह है कि उसके अक्सर शुमारे ज़ब्त कर लिए गए. बावजूद इसके, डॉ. अलीम उसकी इशाअत को जारी रखने की कोशिश करते रहे. वे ख़ौफ़ज़दा होकर चुप नहीं बैठ गए. 'नया अदब' के मुम्बई मुन्तक़िल हो जाने के बाद रज़ा अंसारी साहिब ने फ़िरंगी महल से 'मंज़िल' नाम से एक माहनामा जारी किया. अलीम साहब उससे भी वाबस्ता रहे, जब तक वो शाए' हुआ. वे उसमें लिखते रहे, साथ ही अदबी मुदीर की ज़िम्मेदारी भी निभाते रहे. तरक़्क़ीपसंद अदब के बारे में उनके मज़ामीन और मख़्दूम के पहले शेरी मजमूए 'सुर्ख़ सवेरा' पर उनका तब्सिरा भी उसमें शाए' हुए.

वो शहर-ए-निगारां लखनऊ ही है, जहां डॉ. अलीम के सियासी नज़रीये व सोच को पुख़्तगी हासिल हुई और जहां उनकी शख़्सियत को कम्युनिस्ट रहनुमा और कारकुन की शनाख़्त मिली. वो न सिर्फ़ कम्युनिस्ट पार्टी की लखनऊ शाख़ के सेक्रेट्री मुन्तख़ब हुए, बल्कि सूबाई वर्किंग कमेटी के रुक्न भी बनाए गए. मशहूर व मारूफ़ और जय्यद दानिश्वर होने के बावजूद वे ड्राइंगरूम वाले कम्युनिस्ट नहीं थे. उन्होंने सड़कों पर पार्टी के अख़बार फ़रोख़्त किये, तो जलसे-जुलूसों में भी शामिल हुए. डिफ़ेन्स ऑफ़ इण्डिया रूल्स के तहत उनकी गिरफ़्तारी इसी वजह से हुई. अलीगढ़ में प्रोफ़ेसर को सड़कों पर अख़बार नहीं बेचने चाहिए कि इससे तलबा पर बुरा असर पड़ सकता है–डॉ. अलीम ने अक्सरीयत के फ़ैसले के आगे सर ख़म कर दिया.

इस वाक़िए से हम उनके पार्टी कमिटमेंट और डेमोक्रेसी में उनकी आस्था का

अंदाज़ा लगा सकते हैं. उन के कमिटमेंट का कुछ अंदाज़ा आप प्रोफ़ेसर इरफ़ान हबीब के इन अल्फ़ाज़ से भी लगा सकते हैं कि तनख़ाह मिलते ही वह पार्टी की 'लेवी' अदा कर देते थे और एक मई को मज़दूरों के जलसों में उसी जोश के साथ तक़रीर करते, जैसे कोई मज़दूर लीडर कर रहा हो.

अगर वह वाइस चांसलर रहते हुए ए.एम.यू. की तलबा यूनियन को स्टरैची हॉल में लेनिन डे के आयोजन की इजाज़त दे पाये और फ़ोर्थ क्लास व ख़वातीन मुलाज़मीन के हक़ में कुछ अहम फैसले कर पाए, तो उसके पीछे लखनऊ में परवान चढ़े उनके नज़रियाती कमिटमेंट का कुछ दख़्ल ज़रूर था. जिसकी बुनियाद बर्लिन क़याम के दौरान पड़ी थी. याद कीजिए कि उन दिनों हम ने इन आयोजनों से कैसे हसीन ख़्वाब जोड़ रखे थे. डॉ. अलीम जैसी शख़्सियात की मौजूदगी और हिमायत इन रंगों को गहरा करती थी, इस मक़ाम पर मुझे सलाम मछली शहरी के ये अश्आर याद आ रहे हैं :

डॉ. तुमको भी शबिस्तान-ए-अलीगढ़ की क़सम
लखनऊ की ये हसीन शाम ज़रा याद रहे
वही हम जिस के तअस्सुर को ग़ज़ल कहते हैं
महफिल-ए-फ़िक्र का वह जाम ज़रा याद रहे–

कॉफ़ी हाउस के बग़ैर लखनऊ की हसीन शाम का तसव्वुर अधूरा है, उसी तरह जिस तरह चालीस की दहाई के लखनऊ कॉफ़ी हाउस का ज़िक्र अलीम साहब के बग़ैर ना मुकम्मल है. ये डॉ. अलीम की ही रिवायत है कि लखनऊ का कॉफ़ी हाउस दानिश्वरों, अदीबों और सियासी चिंतकों के दरमियान तबादला-ए-ख़याल का मर्कज़ बन गया. थोड़ा ज़ेहन पर ज़ोर डालिए और रौशन सितारों की वो अंजुमन सजाइए.

अस्रारुल हक़ 'मजाज़,' सलाम मछलीशहरी, कमाल अहमद सिद्दीक़ी, मो. हसन, कभी-कभार सज्जाद ज़हीर, मन्ज़र सलीम, अहमद जमाल पाशा और आले अहमद सुरूर और उन सब के दरमियान अलग से नज़र आते, डॉ. अलीम, ख़ामोशी से सिगार पीते हुए. वो लखनऊ के नहीं थे, लेकिन उन्हें देखकर क्या आप कह सकते थे कि लखनवी तहज़ीब व शराफ़त, आहिस्तारवी, विनय व वज़ादारी का वह जीता-जागता नमूना नहीं थे. ❑

एम.आई.जी. 317 फ़ेज-2 एल.डी.ए. कॉलोनी, मोहान रोड़, लखनऊ, (M) 9839123525

विश्व परिदृश्य में धार्मिक आतंकवाद : मानवता के लिए एक बौद्धिक चुनौती

कमला कान्त त्रिपाठी

शेष-51 से आगे :

इसमें दो राय नहीं कि सदियों से मानव-समाज के साथ अभिन्न रूप से जुड़े धर्म का एक व्यापक आयाम विकासित हो गया है. सभ्यता और संस्कृति के अनेक उपादानों का उत्स धर्म में है. धार्मिक तीर्थों, आख्यानों, मिथकों, पुराकथाओं, उत्सवों और अनुष्ठानों का एक विशद सांस्कृतिक तानाबाना है जो मानव-जीवन को समृद्ध और उल्लासमय बनाता है. साहित्य, संगीत, कला, दर्शन, अध्यात्म सभी में ऐसा बहुत कुछ है जो धर्म के इर्द-गिर्द विकसित हुआ है. लेकिन धर्म का यह सांस्कृतिक विस्तार उसके तत्वज्ञान और आराधना-पद्धति से निःसृत होने के बावजूद स्वभावतःकट्टर और अलगाववादी नहीं है. मनुष्य की रागात्मकता, भाव-प्रणवता, रसात्मकता और सौंदर्य-प्रेम के सार्वभौम पक्ष को छूने के कारण यह वैसी संकीर्णता से मुक्त है. कहीं-कहीं तो यह स्वतंत्र सत्ता के रूप में दिखाई पड़ता है, जैसे भारतीय शास्त्रीय संगीत और नृत्य. धर्म के इस सांस्कृतिक पक्ष में बहुत कुछ ऐसा है जो मानवमात्र की साझी विरासत बन गया है. पर जब धार्मिक कट्टरता उफान पर होती है, तो इस सांस्कृतिक विरासत में भी दरार पड़ने लगती है, यह विभाजित, रुग्ण और कमज़ोर होकर सूखने लगती है. इस साझी सांस्कृतिक विरासत को बचाने के लिए भी धर्मों को उनके परिप्रेक्ष्य में रखने और उनकी अतिशयता पर अंकुश लगाने की ज़रूरत है. सांस्कृतिक रूप से दरिद्र और एकमात्र धर्म से परिचालित और धर्मगुरुओं की दासता में जकड़े मानव-समाज की परिकल्पना से ही सिहरन होती है.

दर्शन की एक शाखा–ज्ञान मीमांसा (espistemology)–में धर्म का प्रायः इस्तेमाल

हुआ है. मनुष्य केवल बुद्धि और विवेक से प्रकृति के रहस्य को नहीं समझ सकता और न अपनी जिज्ञासा शान्त कर सकता है. एक सीमा के बाद विवेक स्वयं अपनी असमर्थता का एहसास दिलाने लगता है. मानव-मस्तिष्क की संरचना की एक सीमा यह है कि वह समय और स्थान की सापेक्षता में ही चीज़ों को समझ सकता है. पर उसे इतना आभास ज़रूर होता है कि सत्य इससे परे है. जैसे मनुष्य को अनन्तत्व (infinity) का आभास तो है पर उसकी अवधारणा नहीं. काल कब शुरू हुआ और कब ख़त्म होगा, इसका उत्तर ढूँढ़ते ही सवाल उठ जाता है कि फिर उसके पहले क्या था और उसके बाद क्या होगा! ऐसे ही स्थान के बारे में यह प्रश्न अनुत्तरित रहता है कि आकाश का अंत कहाँ है, यदि है तो उसके बाद क्या है! पश्चिमी दार्शनिकों ने अंतराल को भरने के लिए ईश्वरीय अभिव्यक्ति (revelation) का सहारा लिया था और स्वाभाविक रूप से उनके लिए इसका तात्पर्य बाइबिल से था. भारतीय दर्शन-परंपरा में इसकी जगह आप्त वाक्य का प्रयोग हुआ. वेदेतर दर्शनों में इसके लिए 'आगम' शब्द का भी प्रयोग हुआ जिसका अर्थ सहज ज्ञान और अन्तर्दृष्टि है. इसमें खोट यह है कि यह मनुष्य के विवेक का दरवाज़ा बंद कर उसकी संभावना को रोक देता है. ईमानदारी तो यह होती कि इस अंतराल को भरने के बजाय यह मान लिया जाता कि मानव-ज्ञान की एक सीमा है, उसके आगे का उसे पता नहीं है, आगे शायद कभी हो सके, या न भी हो सके. प्रकृति के व्यापार के बारे में मनुष्य का ज्ञान अभी भी एकदम अपूर्ण है, किन्तु अनेक प्रश्न जिनके उत्तर पहले नहीं थे, या सिर्फ़ काल्पनिक थे, आज विवेक-सम्मत, वैज्ञानिक उत्तर उपलब्ध हैं. तो ज्ञान-मीमांसा में धर्म का इस्तेमाल मानवता की विकास-यात्रा में बाधक है और मानव-विवेक की संभावना को क्षति पहुँचाता है.

जहाँ ज्ञान-मीमांसा से धर्म का इस्तेमाल एक पूरक तत्व के रूप में सिर्फ़ दार्शनिकों द्वारा हुआ, सामान्य जनसमुदाय ने निरंकुश प्रकृति की क्रूरता और दुःसह जीवन की विरूपता, अनिश्चितता एवं वंचना से निजात पाने के लिए धर्म की शरण ली. जैसा भगतसिंह ने फाँसी से पूर्व जेल में लिखे अपने प्रसिद्ध पर्चे 'मैं नास्तिक क्यों हूँ' में कहा था, मनुष्य ने अपनी सीमाओं और दुर्बलताओं को समझकर परीक्षा की घड़ियों का बहादुरी से मुक़ाबला करने, स्वयं को उत्साहित रखने और ख़तरों को मर्दानगी से झेलने के लिए ईश्वर के काल्पनिक अस्तित्व की रचना की है. मार्क्स के इस कथन को, कि धर्म जन-समुदाय के लिए अफ़ीम है, उसके संदर्भ से काटकर कुछ ज़्यादा ही प्रचारित किया गया है. इस वाक्य के पहले मार्क्स ने कहा था–धर्म प्रताड़ित जीवन की सिसकी है, हृदयहीन जगत में हृदय है, बेहद अनात्मीय स्थितियों में आत्मा है. अनेक पढ़े-लिखे लोग ऐसा कहते मिल जाएँगे कि उन्हें पूजा-अर्चना से मानसिक शांति और संबल मिलता है. तात्पर्य यह कि धर्म की तात्विक छानबीन में जाने के बजाय वे इसे मनोपचार के लिए उपयोगी मानते हैं. पर वे इस अन्तर्विरोध को भूल जाते हैं कि धर्म के प्रति यह

उपयोगितावादी दृष्टिकोण उसकी उस तात्त्विक सत्ता को चूर कर देता है जिसके चलते वह मानसिक शांति और संबल का स्रोत बन सकता है. अपनी लोकोत्तर गरिमा से महरूम होते ही मानसिक संबल के रूप में उसकी उपयोगिता भी ख़त्म हो जाती है. यह मानसिक संबल वस्तुत: मनोवैज्ञानिक कौंसेलिंग की देन है जिसका एक घटक है आत्म-उत्प्रेरण (auto-suggetion). यह विशुद्ध रूप से मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि इस प्रकार के आत्म-उत्प्रेरण से मनुष्य की विचिकित्सा और संशय ख़त्म हो जाते हैं और लक्ष्य के प्रति उसकी निष्ठा घनीभूत हो जाती है. इसके फलस्वरूप उसकी मानसिक, और यहाँ तक कि शारीरिक शक्ति में भी, इज़ाफ़ा होता है. वह संवेदन-शून्य यन्त्र की तरह काम करने लगता है. पर धर्म को महज़ एक उपयोग की चीज़ मानते ही उसकी लोकोत्तर गरिमा नष्ट हो जाती है और तब उसके द्वारा यह सब संभव नहीं हो सकता. और जिसे वाक़ई धर्म से मानसिक शांति और मनोबल मिलेगा, धर्म के मुद्दे पर उसके विचलित और पथ-भ्रष्ट हो जाने की संभावना भी बनी रहेगी. धर्म के नाम पर उसे वशीभूत का ग़लत लक्ष्यों की ओर भी उन्मुख किया जा सकेगा. धर्म के आत्म-उत्प्रेरण से प्राप्त अतिरिक्त शक्ति का एहसास, जो वस्तुत: एक मनोवैज्ञानिक तत्त्व से अधिक कुछ नहीं है, उसे धर्म के प्रति अंध-श्रद्धा की ओर ले जायगा जिसके फलस्वरूप उसे शक्ति के और बढ़ने का एहसास होगा. क्रिया-प्रतिक्रिया की यह शृंखला अंतत: धार्मिक उन्माद को ही जन्म देगी, जिसमें मनुष्य बुद्धि और विवेक खोकर सचमुच मनोरोगी बन जायेगा.

यदि आदमी को मानसिक सहारे के लिए ही धर्म की ज़रूरत है, तो यह सहारा तो बहुत फिसलन-भरा और दिग्भ्रमित करने वाला है और इसलिए बेहद ख़तरनाक है. मानसिक शांति और संबल का वास्तविक स्रोत तो मनुष्य का विवेक और आंतरिक शक्ति है जो दी हुई परिस्थिति में चीज़ों को सही रौशनी में रखकर, धैर्य के साथ उनका सामना करने और अपने को टूटने से बचाती है. यह लक्ष्य के प्रति निष्ठा पैदा करने के साथ उसके औचित्य के प्रति भी लगातार जागरूक रखती है और दूसरों पर उसके असर तथा उसके विविध आयामों के प्रति भी संवेदनशील बनाए रखती है. जीवन जिस रूप में सामने आता है, उससे अपनी प्रकृति-प्रदत्त शक्ति और बुद्धि-विवेक के सहारे जूझने के अलावा मनुष्य के पास कोई अन्य विकल्प नहीं है. धर्म तो उसे दिग्भ्रमित ही करता है, नहीं तो पलायनवादी ही बनाता है. जीवन की जटिलता और बीहड़ता का मुक़ाबला करने के बजाय शुतुरमुर्ग़ की तरह बालू से सर छुपा लेना कहाँ की बहादुरी है! आख़िर जीवन को एक दिन नष्ट तो होना ही है.

वर्तमान धार्मिक आतंकवाद को इस्लामी आतंकवाद का पर्याय मान लिया गया है, जबकि वास्तविकता यह है कि सामान्य मुस्लिम अवाम इससे उसी तरह त्रस्त हैं जैसे शेष मानव-समुदाय. इस आतंकवाद की पृष्ठभूमि बेहद जटिल है और इसकी जड़ें काफ़ी उलझी हुई हैं. इसके पीछे जो शक्तियाँ काम कर रही हैं, उनका मक़सद तो यही

लगता है कि विश्व में नस्ली और धार्मिक रूप से संवेदनशील इलाक़ों का फ़ायदा उठाकर, नव अर्जित आर्थिक संसाधनों द्वारा आधुनिक शस्त्रास्त्रों एवं तकनीकों से लैस एक विश्वस्तरीय मिलिशिया गठित कर, हिंसा और आतंक के सहारे विश्व-व्यवस्था को बदलकर एक नया सत्ता केन्द्र स्थापित किया जाय. पर उसके लिए इस्लाम के जिस संकट और जिहाद की जिस विरुदावली का इस्तेमाल हो रहा है, उसे ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में समझने की ज़रूरत है.

आज के विश्व परिदृश्य में कम से कम दो धर्म ऐसे हैं जिनके बीच टकराहट के बीज स्वाभाविक रूप से मौजूद हैं. ईसाई और इस्लाम धर्मों के बीच संघर्ष का एक लम्बा और ख़ूनी इतिहास रहा है. दोनों ही पूरी दुनिया को अपने-अपने धर्म में दीक्षित करने की महत्वकांक्षा पाले हुए हैं, क्योंकि दोनों एकान्तिक सत्य का दावा करते हैं; जिसमें यह भाव निहित है कि उनके अतिरिक्त अन्य सभी गुमराह हैं और उन्हें सही रास्ते पर लाना एक धार्मिक कर्तव्य, एक ईश्वरीय कार्य है. यही वह बिन्दु है जो मसीहाई धर्मों को अन्य धर्मों या जीवन-पद्धतियों से अलग करता है. हिन्दू, बौद्ध, जैन, सिख, जरथुस्त्र और कन्फ़्यूशियस के अनुयायियों में ऐसी विश्वस्तरीय महत्वकांक्षा न होने से उनमें इस तरह की टकराहट की गुंजाइश कम है. इन दोनों धर्मों की उत्पत्ति और विस्तार की परिस्थितियों का अध्ययन इस संदर्भ में बहुत दिलचस्प और मौज़ूँ होगा.

ईसाई धर्म की उत्पत्ति और विस्तार :

ईसाई धर्म का आधार जीसस की शिक्षाएँ मानी जाती हैं, किन्तु एक संगठित विश्व-धर्म के रूप में इसकी स्थापना और इसके धर्म ग्रन्थ नये टेस्टामेंट की रचना जीसस के काफ़ी बाद हुई. ईसाई धर्म के उत्प्रेरक के रूप में जीसस की भूमिका ऐतिहासिक संयोगों और मनुष्य की अबूझ विश्वास-परायणता का अपूर्व मिश्रण है. जीसस का जीवन, आस्था और इतिहास के घालमेल में इस क़दर डूब गया है कि उनका कोई यथार्थ चित्र सामने नहीं आता. वे रोमन साम्राज्य के प्रभुत्व के दिन थे जिसकी व्यवस्था अभी हाल में गणतन्त्र से एकतन्त्र में अन्तरित हुई थी. इस अंतरण के नायक, रोम के प्रतापी योद्धा, जुलियस सीज़र की हत्या (44 ई.पू.) हुए पचास साल से भी कम बीते थे. सीज़र का दत्तक पुत्र ऑक्टोवियन रोमन सिनेट को पृष्ठभूमि में ठेलकर रोमन सम्राट बन चुका था (27 ई. पू.). साम्राज्य के विभिन्न इलाक़ों में रोम द्वारा नियुक्त राज्यपाल शासन करते थे और वहाँ से कर के रूप में विपुल संपदा रोम की ओर प्रवाहित हो रही थी. इसके लिए बुनियादी ज़रूरत थी कि प्रान्तों में शांति और व्यवस्था क़ायम रहे. रोमन मूर्तिपूजक थे, बहुदेववादी थे और स्वाभाविक रूप से अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णु थे. रोमन सम्राट की सत्ता स्थापित होने के बाद सम्राट की प्रतिमा की पूजा राजकीय धर्म का एक अंग बन गई थी. पर इतर धर्मावलम्बी स्थानीय प्रजा द्वारा रोमनों का अपने किसी अन्य देवता की पूजा कराने का कोई आग्रह नहीं

था, वे उनके धार्मिक कृत्यों में कोई दख़ल देते थे.

रोमन राज्यपाल पोन्टियस पिलेट के अधीन फ़िलस्तीन एक ऐसा ही प्रान्त था जहाँ नज़ारथ में जीसस का जन्म हुआ था: वे पेशे से बढ़ई थे. उनके पिता के बारे में कोई ऐतिहासिक जानकारी नहीं है. उन्होंने अपने को 'ईश्वर का पुत्र' घोषित किया, तो निश्चय ही यह एक लाक्षणिक कथन था, उसी अर्थ में जिसमें हम सभी ईश्वर के पुत्र हैं. माँ मरयम के कंवारी होने का मिथक, बहुत संभव है, लोकापवाद की संभावना को दबाने के लिए गढ़ा गया हो. यह उसी तरह का मिथक है जैसा महाभारत में कुन्ती और माद्री के पुत्रों–कर्ण और पांडवों–का सूर्य तथा अन्य देवताओं से उत्पन्न होने का मिथक है. जीसस ने गैलिली में उपेदश देना शुरू किया और जब वे जेरूसलम पहुँचे, तीस की उम्र पार कर चुके थे. वे जन्म से यहूदी थे. यहूदी लोग उन दिनों पूरे रोमन साम्राज्य में बिखरे हुऐ थे, पर जेरूसलम उनका गढ़ और उनके 'महान' अतीत की यादगार था. रोमन आधिपत्य से खिन्न यहूदियों को यह विश्वास था कि उनका एक नया मसीहा आएगा, जो उनके उस स्वर्णिम अतीत को वापस लायेगा जो डेविड और सोलोमन की भव्य यादों से जुड़ा था. शुरू में यहूदियों ने जीसस को अपने नए मसीहा के रूप में ही देखा, पर जल्द ही उनका मोहभंग हो गया. जीसस यहूदियों के कल्पित वैभव को वापस लाने के बजाय तत्कालीन व्यवस्था में व्याप्त आडंबरों, पाखंडों, और निरर्थक अनुष्ठानों और संस्कारों का विरोध कर रहे थे. वे निचले तबक़े के लोगों के साथ उठते-बैठते थे और धन-समृद्धि के बजाय ग़रीबी का गुणगान करते थे. वस्तुतः जीसस जन्मजात क्रान्तिकारी थे और अन्यायपूर्ण स्थितियों में आमूल परिवर्तन चाहते थे. लिहाज़ा, अधिकांश यहूदी उनके ख़िलाफ़ हो गए और उन्हें धर्म-निन्दा और अशांति फैलाने के आरोप में रोमन अधिकारियों द्वारा पकड़वा दिया. रोमन राज्यपाल पोन्टियस पिलेट उन्हें छोड़ना चाहता था, पर क्रुद्ध यहूदी पुजारियों के दबाव में उसे जीसस को सूली पर चढ़ाने का आदेश देना पड़ा. उसे उन्मादी पुजारियों से इलाक़े में शांति-भंग का ठोस ख़तरा नज़र आ रहा था, जिससे स्थानीय कर-संचय प्रभावित होता और जिसकी शिकायत रोम तक पहुँच जाती. इसके मुक़ाबले साधन-हीन जीसस और उनके निरीह साथियों से ख़तरे की संभावना बहुत कम थी. अतंतः उसे अपनी अंतरात्मा को दबाकर मामले को रफ़ा-दफ़ा करने की नीयत से साम्राज्य के हित में सबल पक्ष का साथ देना पड़ा. मुक़द्दमे के दौरान जिस तरह जीसस ने चुप्पी साध ली और उनके सभी अनुयायी उन्हें छोड़कर भाग खड़े हुए, जिस तरह सूली पर चढ़ाने के पहले उनसे अभद्रता की गई और उनको क्रूर यातनाएँ दी गईं, वह सब बाद में एक शोकान्त नाटक की तरह लोगों को प्रेरित करने के लिए इस्तेमाल किया जाने लगा. अपने अंतिम समय में उन्होंने जो आह भरी थी–हे ईश्वर, तुमने मुझे क्यों त्याग दिया–वह एक सहज मानवीय उद्‌गार से अधिक कुछ नहीं हो सकता था.

जीसस को सूली पर चढ़ाए जाने की ऐतिहासिक घटना और उसके इर्द-गिर्द बुने गए मिथकीय संजाल के बिना एक संगठित विश्व-धर्म के रूप में ईसाइयत का जन्म नहीं हो सकता था. इस घटना के बाद जीसस के अनुयायी हिम्मत बटोरकर फिर से इकट्ठे हुए और उनसे जुड़े चमत्कारों की बातें फैलाकर अपना विश्वास दृढ़ करने और उनकी ईश्वरीयता स्थापित करने में लग गए. उनका नेतृत्व किया उनमें से सबसे बुज़ुर्ग, एक ग़ैर पढ़े-लिखे मछुआरे पीटर ने जो संकट के समय जीसस का साथ छोड़ देने से पश्चात्ताप की आग में जल रहा था. मानसिक असुरक्षा और संत्रास की अवस्था में पीटर को आभास होने लगा कि जीसस पुनर्जीवित हो गए हैं और अपने अनुयायियों को मार्ग दिखा रहे हैं. वस्तुतः जीसस की इच्छा के विरुद्ध सूली पर चढ़ाए जाने से उनकी ईश्वरीयता की धारणा खंडित होती थी, इसलिए यह मानना ज़रूरी था कि वे लोगों को पाप मुक्त करने के लिए स्वेच्छा से सूली पर चढ़े थे और दैवी शक्ति से पुनः जीवित हो गए थे. कुछ रहस्यमय परिस्थितियों में जीसस की क़ब्र से उनकी लाश ग़ायब हो गई जिसे उनके पुनर्जीवन के पक्ष में इस्तेमाल किया गया. ध्यान देने योग्य है कि रोम अधिकारियों ने जीसस के अनुयायियों पर आरोप लगाया था कि उन्होंने जानबूझ कर लाश ग़ायब कर दी थी, जिससे पुनर्जीवन की बात फैलाकर भोले-भाले लोगों को बरग़लाया जा सके.

धीरे-धीरे जीसस के अनुयायियों का एक संगठन बनता गया जिसमें बपतिस्मा कराकर नये-नये यहूदियों को सम्मिलित किया जाने लगा. शुरू में केवल यहूदियों को इस मत में शामिल किया गया. बाहरी लोगों को शामिल करने के प्रश्न पर काफ़ी विवाद हुआ. पीटर और अन्य अनुयायी ग़रीब और ग़ैर पढ़े-लिखे लोग थे जो जीसस को सिर्फ़ यहूदियों का उद्धारक मानते थे. फिर एक विद्वान और प्रतिभाशाली युवक पॉल उनसे आ मिला जिसने जीसस को देखा तो नहीं था, पर जिसका मानसिक क्षितिज काफ़ी विस्तृत था. उसके आग्रह पर, काफ़ी विवाद के बाद, बाहरी लोगों का भी बपतिस्मा किया जाने लगा. अनुयायियों ने आपस में तय कर मत के प्रचार के लिए भिन्न-भिन्न सदस्यों को दूर-दराज़ के इलाक़ों में भेजा. इसी क्रम में पॉल को रोम भेजा गया जहाँ उसने क्रान्तिकारी कार्य किया और कई लोगों को ईसाई बनाया. पॉल बाद मे संत पॉल बन गए जिनके बुलावे पर संत पीटर भी अपनी वृद्धावस्था में रोम पहुँचे, क्योंकि वहाँ के ईसाई ऐसे व्यक्ति को देखना-सुनना चाहते थे, जो जीसस के जीवन-काल में उनके साथ रहा था और साक्षात् उनकी बातें सुनी थीं. उस समय रोम का सम्राट नीरो था जो इतिहास में अपनी निरंकुशता और क्रूरता के लिए कुख्यात है. ऐसा माना जाता है कि सम्राट की मूर्ति-पूजा से इन्कार करने के प्रश्न पर संत पॉल पर मुक़द्दमा चलाकर उनका सर काट दिया गया. अब वहाँ के ईसाइयों का नेतृत्व संत पीटर के बूढ़े कंधों पर आ पड़ा. वे अपने देश लौटना चाहते थे, किन्तु संत पॉल की

फाँसी से घबड़ाए रोम के ईसाइयों ने उन्हें रोक लिया. वे छिपकर मिलने लगे और तहख़ाने में चर्च बनाया. नीरो ने ईसाइयों के मुहल्ले में आग लगवा दी और इसका इल्ज़ाम उन्हीं के सर मढ़ दिया. वस्तुत: नीरो अपने लिए एक नए और विशाल राज-महल का निर्माण कराना चाहता था जिसके लिए रोम में जगह चाहिए थी, जो इस कुचक्र द्वारा हथियाई गई. आग लगने वाली घटना के बाद कई ईसाई रोम छोड़कर भाग निकले, जो रह गए उन्हें पकड़कर फाँसियाँ दी गईं. संत पीटर को भी सूली पर चढ़ा दिया गया. ईसाइयों के उत्पीड़न का लंबा दौर यहीं से शुरू होता है जिसके दौरान कई ईसाई संत शहीद हुए. ईसाई धर्म के प्रचार में सबसे बड़ा योगदान संतों की शहादत का है. संत पॉल के समय में ही नए टेस्टामेंट का संकलन हुआ जिसमें जीसस की जीवन-गाथा के अलावा अधिकांश अंश संत पॉल की शिक्षाओं का है जिन्होंने 'ईश्वर के पुत्र' जीसस को देखा तक नहीं था. यहूदियों के धर्मग्रन्थ, पुराने टेस्टामेंट, के साथ इसी को ईश्वर की अभिव्यक्ति (revelation) माना जाता रहा है.

रोमन साम्राज्य में ईसाई लगातार आक्रामक होते गए और चर्च का प्रभाव बढ़ता गया. उधर राजनीतिक शक्ति के रूप में रोमन साम्राज्य का ह्रास शुरू हो गया. रोमन सेना में बाहरी देशों के सैनिकों की संख्या बढ़ती गई थी जिन्हें रोमन असभ्य और बर्बर समझते थे. इन बर्बर जातियों से साम्राज्य कीं सीमाएँ असुरक्षित हो गईं, क्योंकि अब 'बर्बर' सैनिकों से भरी रोमन सेना सम्राट के प्रति वैसी स्वामिभक्त नहीं रह गई. मुख्य ख़तरा पूरब से था जहाँ जुलियस सीज़र के समय में ही रोमन सेनाएँ पार्थिया (आज के ईरान और इराक़) की सेनाओं से परास्त हो चुकी थीं. रोमन सम्राट कान्स्टैन्टाइन ने एक महत्वपूर्ण निर्णय लिया और रोमन साम्राज्य का सत्ता-पीठ रोम से हटाकर यूरोप के पूर्वी छोर पर ले गया. काला सागर और भूमध्य सागर के बीच पुराने शहर बाइजेन्टियम के पास उसने साम्राज्य की नई राजधानी बनवाई (326 ई.) जो उसी के नाम से कान्स्टैन्टिनोपल (कुस्तुनतुनिया) कहलाई. अब यही नया रोम था. पश्चिमी साम्राज्य की आंतरिक अशांति से निपटने के लिए कान्स्टैन्टाइन स्वयं ईसाई बन गया और इस तरह ईसाई धर्म रोमन साम्राज्य का राजकीय धर्म बन गया और यूरोप ईसा का राज्य (Christendom) कहा जाने लगा. तभी पश्चिमी साम्राज्य पर जर्मन क़बीलों के हमले शुरू हो गए जिनसे सुदूर पूर्व से निपटना मुश्किल होता गया. लिहाज़ा दो संयुक्त सम्राट होने लगे, एक रोम में बैठता था और दूसरा कुस्तुनतुनिया में. यह व्यवस्था ज़्यादा दिन नहीं चल पाई और जल्द ही साम्राज्य दो भागों में बँट गया. पश्चिमी साम्राज्य जर्मनी के गोथ क़बीले की बाढ़ को रोकने में असमर्थ रहा जिसने रोम पहुँचकर उसे ध्वस्त कर दिया. गोथों के बाद वन्डल आए और तब हूण और पश्चिमी साम्राज्य ताश के महल की तरह ढह गया. पश्चिमी रोमन साम्राज्य के पतन का उत्तरदायित्व प्राय: ईसाइयत पर डाला जाता है और कहा जाता है कि इसने

पुराने रोम के पुंसत्व को तरल कर दिया था. पूर्वी साम्राज्य जैसे-तैसे हूणों के हमलों को झेल ले गया. यही नहीं, वह अरबों और तुर्कों से लड़ते हुए अगले 1100 वर्षों तक क़ायम रहा और 1453 में जाकर उस्मानी तुर्कों से परास्त हुआ जिससे कुस्तुनतुनिया उनके क़ब्ज़े में चला गया और यूरोप तथा एशिया के बीच व्यापार का प्राचीन, ज़मीनी रास्ता बंद हो गया. इसके चलते प्रबल यूरोपी राष्ट्रों द्वारा अपनी सामुद्रिक शक्ति बढ़ाकर एशिया, अफ़्रीक़ा और अमेरिका के देशों को उपनिवेश बनाने का रास्ता खुला.

साम्राज्य का आधिकारिक धर्म बनते ही ईसाई समाज के विभिन्न संप्रदायों में सुलगता कलह खुलकर सामने आने लगा. पहला विभाजन हुआ यूनानी या पारंपरिक (Orthodox) चर्च और लैटिन या रोमन कैथलिक चर्च में मूर्ति-पूजा को लेकर. रोमन चर्च ईसाई संतों, विशेषकर माँ मरयम की पूजा को प्रोत्साहित करता था जबकि यूनानी चर्च को इससे सख़्त एतराज़ था. बाद में रोमन कैथलिक का ही वर्चस्व क़ायम हुआ, क्योंकि कुस्तुनतुनिया के पतन के बाद यूनानी चर्च मुख्यत: रूस तक सीमित हो कर रह गया. रोमन कैथलिक का केन्द्र रोम होने से वहाँ के बिशप को पोप का दरजा मिल गया था. धर्म के अलावा सत्ता की राजनीति में भी पोप का दबदबा बढ़ता गया था. यूरोप की एकता का सूत्र टूट जाने से भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में राष्ट्रीय भावनाएँ पनपने लगी थीं जो धीरे-धीरे राष्ट्रीय राज्यों का आकार ले रही थीं. पर अभी सब कुछ अनिश्चय के अँधेरे में डूबा था. धार्मिक आडंबरों ने पुराने यूनान के मुक्त चिंतन को ढक लिया था और पूरा यूरोप लगभग एक हज़ार सालों के लिए मध्ययुगीन अधंकार में डूब गया था. कुस्तुनतुनिया के साम्राट से पोप का रिश्ता कभी सामान्य नहीं हो पाया और पूर्वी साम्राज्य हमेशा उसकी आँखों में खटकता रहा. फ़्रांस, बेल्जियम और जर्मनी के भूभाग पर प्रभुत्व रखने वाले शार्लमन को पोप ने रोम बुलाया और 800 ई. के क्रिस्मस के दिन एक भव्य आयोजन में उसे रोमन सम्राट का मुकुट पहना दिया. उसी दिन से यूरोपीय इतिहास की वह पहेली वुजूद में आई जिसे 'पवित्र रोमन साम्राज्य' कहा जाता है, जो पुराने साम्राज्य का भूत भर था और, वाल्तेयर के शब्दों में, न तो पवित्र था, न रोमन और न साम्राज्य. विभिन्न क्षेत्रों के राजा 'रोमन सम्राट' चुन लिये जाते थे, जिसमें पोप की बड़ी भूमिका रहती थी. लिहाज़ा, सम्राट और पोप के बीच लम्बी प्रतिद्वंद्विता चली और सारा यूरोपीय चिंतन दोनों के बीच की उठापटक के इर्द-गिर्द घूमता रहा. यूनानी ज्ञान की खोज और प्रतिष्ठा के साथ पुनर्जागरण की शुरुआत हुई, तो पोप की सत्ता को कारगर चुनौती मिली; पर धार्मिक अशांति का एक नया दौर शुरू हो गया. लूथर और काल्विन ने चर्च की निरंकुशता और उसमें व्याप्त भ्रष्टाचार के ख़िलाफ़ जो आवाज़ उठाई वह एक नये, प्रोटेस्टैंट सम्प्रदाय के रूप में मूर्त हुई और कैथलिक तथा प्रोटेस्टैंट के बीच के द्वंद्व से यूरोप फिर से आक्रान्त हो उठा. प्रोटेस्टैंट की प्रतिक्रिया में कैथलिक चर्च में भीतरी सुधार भी हुए और धीरे-धीरे उसका राजनीतिक

प्रभाव सिमटता गया. बाद में वह वेटिकन नगर तक सीमित होकर रह गया.

रोमन साम्राज्य का राजकीय धर्म बनने के लगभग चार शताब्दी बाद ईसाइयत को पूरब से उठने वाले एक नए धर्म से विकट चुनौती का सामना करना पड़ा. यह भी एक मसीहाई या पैग़म्बरी धर्म था, लेकिन इसकी विशेषता यह थी कि इसके पैग़म्बर ने अपने को ईश्वर का अंतिम पैग़म्बर घोषित कर, भविष्य की वैसी ही चुनौती की संभावना को ख़त्म कर दिया था, जहाँ जीसस को शुरुआती दिनों में ही सूली पर चढ़ा दिया गया था. इस नए मसीहा को पूरी औसत आयु मिली जिसका उपयोग उन्होंने अपनी शिक्षाओं को कार्यरूप में परिणत करने और अपने धर्म को एक संगठित रूप देने में लगाया. *यह धर्म भी ईसाई धर्म की तरह एकेश्वरवाद का पोषक था, पर यह कई अर्थों में अपने समय से आगे था. इसके समानता और भ्रातृत्व के संदेश ने न केवल अरबों को एकता के सूत्र में पिरोकर एक शक्तिशाली राष्ट्र बनाया, उन्हें थोड़े ही समय में सामरिक, आर्थिक और सांस्कृतिक मामलों में विश्व की एक अजेय शक्ति बना दिया, जिसने इतिहास की धारा बदल दी.* (जारी) ❑

मुख्य आयकर आयुक्त, 44 विलियम्स रोड, तिरूचिल्लापल्ली-620001

21वीं सदी की छलछल उच्छल हिंदी

अरविंद कुमार

24 अप्रैल 2007 के हिंदुस्तान (दिल्ली) के मुखपृष्ठ पर छपे एक चित्र का कैप्शन–

पीऐसऐलवी सी-8 से इटली के उपग्रह एजाइल को कक्षा में स्थापित कर भारत ने ग्लोबल स्पेस मार्केट में प्रवेश किया. इसरो की यह उड़ान पहली व्यावसायिक उड़ान थी. इसरो दुनिया की अग्रणी एजेसियों की श्रेणी मे आया. (श्रीहरिकोटा से) लांचिंग के दौरान सतीश धवन केंद्र के इसरो प्रमुख जी. माधवन वैज्ञानिक मौजूद थे.

यह है आज़ादी के साठवें वर्ष में नौजवान हिंदुस्तान और नौजवान हिंदी–संसार से बराबरी के स्तर पर होड़ करने के लिए उतावला हिन्दुस्तान. और पूर्वग्रहों से मुक्त हर भाषा से आवश्यक शब्द समो कर अपने को समृद्ध करने को तैयार हिंदी.

कहाँ 1947 का वह देश जहाँ एक सूई भी नहीं बनती थी, जहाँ चमड़ा कमा कर बाहर भेजा जाता था और जूते इंपोर्ट किए जाते थे. जहाँ साल दो साल बाद भारी अकाल पड़ते थे. बंगाल के अकाल के बारे में आजकल के लोग नहीं जानते, पर अँगरेज़ी राज के हिंदुस्तान की वही सच्ची तस्वीर है–भूखा नंगा किसान, बेरोज़गार नौजवान. कहाँ आज अपनी धरती से देशी राकेट में अंतरिक्ष को व्यावसायिक उड़ान भरने वाला, चाँद तक अपने राकेट भेजने के सपने देखने वाला देश!

आज़ादी में हिंदी का पहला मतलब...

ऐसे में मेरा मन साठ-बासठ साल पीछे चला जाता है. होश सँभालने पर मैंने आज़ादी की लड़ाई के अंतिम दो-तीन वर्ष ही देखे–1945 से 1947 तक. 15 अगस्त की झूमती-गाती मस्ती और उत्साह से रात भर सो न सकने वाली दिल्ली मुझे याद है. मुझे यह भी याद हे किस प्रकार सिंतबर से सांप्रदायिक दंगों से घिरी दिल्ली में हमारा स्वयंसेवकों का दस्ता दिन भर करौल बाग़ के आसपास के उन मकानों का

जायज़ा लेता था जिन के निवासी पाकिस्तान जाने वाले शिविरों में चले गए थे (ऐसे ही एक घर में मैंने तवे पर अधपकी रोटी देखी थी, और किसी कमरे में किताबों से भरे आले-अल्मारियाँ देखे थे, जिन में से मैं प्रसिद्ध अँगरेज़ी उपन्यास *वैस्टवर्ड हो* उठा लाया था), और रात को रेलवे स्टेशन पर उतरने वाले रोते-बिलखते या सहमे बच्चों वाले परिवारों को ट्रकों में लाद कर उन घरों में छोड़ आता था. आज़ादी के पहले दिनों की याद आए और वे दिन याद न आएँ, ऐसा हो नहीं सकता.

मुझे याद है आम आदमी की तरह हमारे मनों में भाषा को लेकर कोई एक बात थी तो वो थी, अँगरेज़ी से मुक्त होने की ललक. (मैं मैट्रिक पास कर चुका था, कोई भाषाविद नहीं था, पर भाषा प्रेम तो कूट-कूट कर भरा था.) चाहते थे कि जल्दी से जल्दी अँगरेज़ी की बिदाई के बाद हिंदी की ताजपोशी हो, सत्ताभिषेक–जल्दी से जल्दी, तत्काल, फ़ौरन. उन दिनों जनता के स्तर पर ब्रिटिश इंडिया में हिंदी कहीं नहीं थी. कोर्ट कचहरी थाने तहसील में कार्यवाही अँगरेज़ी के बाद उर्दू में होती थी. कारण ऐतिहासिक थे. लेकिन हिंदी वालों के मन में उर्दू का विरोध भी गहरे बसा था. उसे सांप्रदायिक रंग भी दिया ज़ाता था, जिस के पीछे एक भ्रामक नारा था–हिंदी, हिंदू, हिंदुस्तान. जैसे देश में मलयालम, तमिल, गुजराती, बांग्ला आदि भाषाएँ हों ही नहीं ! उत्तर भारत के बहुत सारे लोगों को वह नारा मोहक लगता था.

आज़ाद होते ही हर क्षेत्र की तरह भाषा के क्षेत्र में भी देश ने दूरगामी क़दम उठाने शुरू कर दिए. तरह-तरह के वैज्ञानिक संस्थान और शिक्षा के लिए अच्छे अच्छे तकनीकी विद्यालयों की योजनाएँ बनाई जाने लगीं. छलाँग लगा कर पचास सालों में तेज़ दौड़ती दुनिया के निकट पहुँचने के लिए पंचवर्षीय योजनाएँ बनीं. आकलन किया गया था कि 1984 के आसपास हम लक्ष्य के कहीं क़रीब होंगे. 84 तक हिंदुस्तान की उन्नति का लांचिंग पैड तैयार हो चुका था, अब उड़ानें नज़र आ रही हैं.

इसी प्रकार हिंदी की उन्नति के लिए आयोग बने, नई शब्दावली का निर्माण आरंभ हुआ. तरह-तरह के कोशों के लिए अनुदान दिए गए. डॉक्टर रघुवीर की *कंप्रीहैंसिव इंग्लिश-हिंदी डिक्शनरी* और पंडित सुंदरलाल का विवादित हिंदुस्तानी कोश उन्हीं अनुदानों का परिणाम थे. हिंदी के सामने चुनौती थी उस अँगरेज़ी तक पहुँचने की जो औद्योगिक क्रांति के समय से ही तकनीकी शब्द बनाती आगे बढ़ रही थी. वहाँ शब्दों का बनना और प्रचलित होना एक ऐसी प्रक्रिया थी, जैसे सही जलवायु में किसी बीज का विशाल पेड़ बन जाना. हिंदी के पास यह सुविधा नहीं थी, या कहें कि इस का समय नहीं था. रास्ते में उसे ग़लतियाँ करनी ही थीं. ऊपर वाले दोनों कोश वैसी ही ग़लतियाँ कहे जा सकते हैं. (रघुवीरी कोश को भी ग़लती मान कर मैंने कोई कुफ़्र तो नहीं कर दिया? लेकिन मैदाने जंग में शहसवार ही गिरते हैं, घुटनों के बल चलने वाले बच्चे नहीं. डॉक्टर रघुवीर हमारे कुशलतम घुड़सवार थे, इस में कोई शक नहीं.)

शेष

आज़ादी के बाद हिंदी का मतलब पंडिताऊ हिंदी से बचती हुई लेकिन संस्कृत शब्दों से प्रेरित नवसंस्कृत शब्दों वाली भाषा हो गया था. अचानक राष्ट्रभाषा और राज्यभाषा पद पर बैठने वाली भाषा को अँगरेज़ी की सदियों में बनी वौकेबुलैरी के नज़दीक पहुँचना था. हिंदी के लिए तकनीकी शब्दावली बनाने का महाभियान या ऑपिरशन शुरू किया गया. यह ज़रूरी भी था. नई स्वतंत्र राष्ट्रीयता के जोश में वैज्ञानिकों के साथ बैठ कर हिंदी विद्वान शब्द बनाने बैठे. जैसा चीन में हुआ वैसा ही भारत में भी. तकनीकी शब्दों के अनुवाद, कई जगहों पर अनगढ़ अप्रिय अनुवाद, किए जाने लगे. जो भाषा बनी वह रेडियो समाचारों और हिंदी दैनिकों पर कई दशक छाई रही. लेकिन लोकप्रिय न हो पाई. कारण : यह फ़ैक्ट ओवरलुक कर दिया गया कि तकनीकी शब्द वे लोग बनाते हैं जो किसी उपकरण को यूज़ करते हैं या इनवैंट करते हैं. यह भी नज़रंदाज़ कर दिया गया कि उन्नीसवीं सदी वाली आधी-ऊँघती आधी-जागती दुनिया इक्कीसवीं सदी की तरफ़ दौड़ रही है. अब इनफ़ौर्मेशन क्रांति के युग में हर रोज़ इतनी सारी नई चीज़ें बन रही हैं कि उन के नामों का अनुवाद करते और अनुवाद को लोकप्रिय करते-करते संसार हमें पीछे छोड़ जाएगा.

जो भी हो, पिछले सौ सालों में हिंदी में जो तीव्र विकास हुआ है, एक आधुनिक संपन्न भाषा उभर कर आई है, वह संसार भर में भाषाई विकास का अनुपम उदाहरण है. लैटिन से आक्रांत इंग्लैंड में अँगरेज़ी को जहाँ तक पहुँचने में पाँच सौ से ऊपर साल लगे, वहाँ तक पहुँचने में हिंदी को मेरी राय में कुल मिला कर डेढ़ सौ साल लगेंगे–2050 तक वह संसार की समृद्धतम भाषाओं में होगी–सिवाए एक बात के. वह यह कि आज अँगरेज़ी संसार में संपर्क की प्रमुख भाषा है. इस स्थान तक हिंदी शायद कभी न पहुँचे, या पहुँचे तो तब जब भारत दुनिया का सर्वप्रमुख देश बन पाएगा. दूर दिल्ली ! संख्या की दृष्टि से हिंदी बोलने वाले आज दुनिया में चौथे स्थान पर हैं. वे धरती के हर कोने में मिलते हैं. कई देशों में वे इनफ़ौर्मेशन तकनीक में मार्गदर्शक ही नहीं नेता का काम कर रहे हैं, जब कि भारत में यह तकनीक काफ़ी बाद में पहुँची. इस सब के पीछे है वह आंतरिक ऊर्जा जो हर भारतवासी के मन में है. वह ललक जो हमें किसी से पीछे न रहने के लिए उकसाती है. अँगरेज़ी राज के दौरान भी यह भावना हम में सजग थी. कुछ सत्ता सुख भोगी या सत्ताश्रित वर्गों के अलावा आम आदमी ने विदेशी राज को कभी स्वीकार नहीं किया.

लेकिन इतिहास गवाह है कि किसी भी प्रकार और स्तर पर अंतरसांस्कृतिक संपर्क परिवर्तन और विकास का प्रेरक रहा है. भारत के आधुनिकीकरण के पीछे अँगरेज़ी शासन और यूरोपीय संस्कृतियों से संपर्क के प्रभाव को नकारा नहीं जा सकता. राजा राम मोहन राय के ज़माने से ही समाज को बदलने की मुहिम भीतर तक व्यापने को उतावली हो गई थी. सुधारों के सतही विरोध के बावजूद ऊपरी तौर पर दक़ियानूसी

दिखाई देने वाले लोग भी एक अनदेखी सांस्कृतिक प्रणाली से साबक़ा पड़ने पर मन ही मन अपने को बदलाव के लिए तैयार कर रहे थे. ब्रह्म समाज और आर्य समाज जैसे आंदोलन यूरोप, सत्ता द्वारा प्रचारित ईसाइयत और विदेशी शासन के ख़िलाफ़ और अपने आप को उस से बेहतर साबित करने के तेज़ी से लोकप्रिय होते तरीक़े थे. इंग्लिश थोप कर भारतीयों को देसी अँगरेज़ बनाने की मैकाले की नीति उलटी पड़ चुकी थी. वह केवल कुछ काले साहब बना पाई, आम जनता जिन का मज़ाक उड़ाती रही. मैकाले की मनोकल्पना के विपरीत अँगरेज़ी शिक्षा ने विरोधी विचारकों और नेताओं की एक पूरी फ़ौज ज़रूर तैयार कर दी जो यूरोप में प्रचलित नवीनतम बौद्धिक, सामाजिक और राजनीतिक चेतना को समझ कर अँगरेज़ी शासन के ख़िलाफ़ जन जागरण का बिगुल फूँकने लगे. इस परिप्रेक्ष्य में कई बार विचार जागता है कि अगर मैकाले न होता, उस ने अँगरेज़ी न थोपी होती, तो क्या हमारा देश आज भी अफ़ग़ानिस्तान, ईरान और अनेक अरब देशों जैसा मध्यकाल में रहने वाला देश न रह जाता !

आज जापान दुनिया में हम से भी बहुत आगे है. जापान में सम्राट मेजी का जो सुधार अभियान (चुने नौजवानों को अमेरिका भेज कर अँगरेज़ी सिखाना, नवीनतम तकनीक सीख कर देश को आधुनिक बनाना, और कुरीतियों को मिटा कर समाज सुधार करना) 19वीं सदी के अंतिम दो दशकों में आरंभ हुआ, भारत में उस की नींव मैकाले ने अँगरेज़ी शिक्षा का माध्यम बना कर अनजाने ही लगभग पचास साल पहले रख दी थी. तकनीकी विकास पर ज़ोर हमारे यहाँ नदारद था, क्यों कि वह शासकों के हित में नहीं था. लेकिन तकनीकी विकास और भारत की पुरानी तकनीकी अग्रस्थिति को फिर से पाने की तमन्ना भारत में आज़ादी की पहली लड़ाई से पहले ही जाग उठी. अँगरेज़ों से लड़ाई के लिए टीपू सुल्तान ने फ़्रांस से संपर्क किया था, कई नौजवान वहाँ भेजे थे, नवीनतम तकनीक सीखने. टीपू की हार ने वह सब समाप्त कर दिया. ढाके की मलमल का और किस प्रकार उसे बनाने वाले कारीगरों के अँगूठे कटवाए गए—इस बात का ज़िक्र बीसवीं सदी के स्वतंत्रता आंदोलनों पर लगातार छाया रहा. 1857 से कुछ वर्ष पहले ही सेठ रणछोड़ ने अहमदाबाद में पहली सूती मिल खोल दी थी. जमशेदजी नसरवानजी टाटा ने इस्पात संयंत्र की स्थापना बीसवीं सदी के मुख पर 1907 में कर दी थी. स्वदेशी आंदोलन इस से पहले शुरू हो चुके थे.

समाज सुधार और आज़ादी के संघर्ष की भाषा के तौर पर हिंदी को अखिल भारतीय समर्थन आरंभ से ही मिल रहा था. हिंदी राजनीतिक संवाद की भाषा और जनता की पुकार बनी. पत्रकार बनी. पत्रकार ने इसे माँजा, साहित्यकारों ने सँवारा. उन दिनों सभी भाषाओं के अख़बारों में तार द्वारा और टेलिप्रिंटर पर दुनिया भर के समाचार अँगरेज़ी में आते थे. इन में होती थी एक नए, और कई बार अपरिचित, विश्व की अनजान अनोखी तकनीकी, राजनीतिक, सांस्कृतिक शब्दावली जिस का अनुवाद तत्काल

किया जाना होता था ताकि सुबह सबेरे पाठकों तक पहुँच सके. कई दशक तक हज़ारों अनाम पत्रकारों ने इस चुनौती को झेला और हिंदी की शब्द संपदा को नया रंगरूप देने का महान काम कर दिखाया. पत्रकारों ने ही हिंदी की वर्तनी को एकरूप करने के प्रयास किए. वाराणसी का ज्ञान मंडल का कोश दैनिक 'आज' के संपादन विभाग से उपजे विचारों और उसके प्रकाशकों की ही देन है. मुझ जैसे हिंदी प्रेमियों के लिए यह वर्तनी का वेद है. तीसादि दशक में फ़िल्मों को आवाज़ मिली. बोलपट या टॉकी मूवी का युग शुरू हुआ. अब फ़िल्मों ने हिंदी को देश के कोने-कोने में और देश के बाहर भी फैलाया. संसार भर में भारतीयों को जोड़े रखने का काम बीसवीं सदी में सुधारकों, स्वतंत्रता सेनानियों, पत्रकारों, साहित्यकारों और फ़िल्मकारों ने बड़ी खूबी से किया...

आज कुछ वर्गों में ग्लोबलाइज़ेशन का विरोध फ़ैशन बन गया है. ग्लोबलाइज़ेशन या ग्लोबलन या फिर सुधीश पचौरी के बनाए शब्द ग्लोकुल के आधार पर ग्लोकुलन है क्या ? व्यापारिक, सांस्कृतिक और संप्रेषण के स्तर पर दुनिया का एक गाँव भर बना जाना, या ऐसा परस्पर-संपृक्त कुल बन जाना जो परस्पर तत्काल व्यवहार कर रहा हो, एक दूसरे से आदान-प्रदान कर रहा हो. आज आज़ाद हिंदुस्तान इस दुनिया में अपनी जगह सुदृढ़ करने के लिए उतावला है. हिंदी का विकास और प्रसार इस में सबल भूमिका निभा रहा है. परिणामस्वरूप भाषाई स्तर पर जो उलटफेर हो रहा है, उससे कुछ हिंदी वाले कई तरह की आशंकाओं, दुश्चिंताओं और भयों से त्रस्त हैं. कई प्रतिक्रियाएँ तो ऐसी हैं जो इस वैश्विक परिवर्तन के युग में, अंतरराष्ट्रीय (विशेषकर इंग्लिश) शब्दावली की तीखी भरमार के कारण देखने को मिलती हैं.

ग्लोकुलन कोई नई प्रक्रिया नहीं है. बड़ी संख्या में मानविकी, नृवंशिकी, भाषाविज्ञानी मानते हैं कि कोई दो हज़ार संख्या वाले एक मानव वंश ने पेचीदा भाषा रचना का गुर पा लिया. भाषा के हथियार के सहारे यह वंश सुनियंत्रित सुगठित दलों की रचना कर के भयानक जीवों पर विजय पा सकने में सफल हो गया. उस का वंश तेज़ी से बढ़ने फैलने लगा. तक़रीबन 50 हज़ार साल पहले इसके वंशजों को नौपरिवहन के गुर पता चल गए. तो अरब सागर (पुरानी शब्दावली में वरुण सागर) पार कर के वे भारत भूखंड के उत्तर पश्चिम तट पर कहीं गुजरात के आसपास पहुँचे. यहाँ से वे सारी दिशाओं में बढ़ते चले गए. यह था पहला ग्लोकुलन अभियान. अफ़्रीका में टिके रहे साथी पूरे महाद्वीप में फैलते रहे. जो लोग भारत आ गए थे, वे देश में तो फैले ही, साथ-साथ अफ़ग़ानिस्तान-इराक़-ईरान के रास्ते एक तरफ़ यूरोप, दूसरी तरफ़ चीन, मंगोलिया, जापान और एशिया के उत्तर पूर्वी छोर से अलास्का के रास्ते अमेरिकी महाद्वीपों पर छा गए. मानव वंश बढ़ता बँटता रहा, बदलते देश, भूगोल और आवश्यकताओं के अनुसार भाषाएँ बनती बदलती रहीं. अब दुनिया विविध जातियों और 5,000 से अधिक भाषाओं में बँटी है. उन की मूल भाषा का कोई रूप अब नहीं

मिलता. इसी ग्लोकुलन के सहारे मानव सभ्यता आगे बढ़ी है.

पिछली तीन-चार सदियों में विज्ञान और औद्योगिक क्रांति ने बिखरी जातियों और भाषाओं को फिर से बड़े पैमाने पर नज़दीक लाना शुरू कर दिया था. कभी साम्राज्यों के द्वारा, कभी विचारों के द्वारा. आज हम लोग ग्लोकुलन की नवीनतम और सबलतम धारा के बीच हैं. दुनिया तेज़ी से छोटी हो रही है. ग्लोब का कोई कोना आवागमन की तेज़ धारा से बचा नहीं है. स्वयं हिंदुस्तान के लोग किस कोने में नहीं हैं? उन पर सूरज कभी नहीं डूबता. पिछले दशकों में सूचना तकनीक में दिन दूनी, रात चौगुनी तरक़्क़ी हुई है. इस में हम भारतीयों का योगदान कम नहीं है, तो इस लिए भी कि हम अँगरेज़ी भाषा में पारंगत हैं. संप्रेषण के क्षेत्र में व्यापकता और तात्कालिकता आई है. सारी दुनिया हर ख़बर साथ-साथ अपनी आँखों देखती है. लिखित समाचार के ऊपर बोला गया वाचिक रिपोर्ताज़ हावी होता जा रहा है. मुमकिन नहीं था कि इस सब का असर समाज और भाषा पर न पड़े. सारी भाषाएँ बदलाव की तेज़ रौ में बह रही हैं. नई तकनीकें नए विचार, नए शब्द, ला रही हैं.

विश्व के परस्पर संलग्न का सबसे ज़्यादा असर जीवन स्तर और शैली पर हुआ है. हर साल नए से नया परिवर्तन. नई समृद्धि का संदेश, नई आशा! नए से नया बेहतरीन माल! हिंदुस्तान अब वह नहीं है जो 1907 में था, या 1947 में या 1957 में था. आज का नौजवान हिंदुस्तान वह नहीं है जो 1991 में था. 2001 से 2007 तक भी इंडिया बदल गया है. 1947 में बीए एमए पढ़े-लिखे युवक के सामने रोज़गार के गिने-चुने पेशे थे. क्लर्की, टाइपिंग, शार्टहैंट, अध्यापकी. वह भी सिफारिश हो तो. कोई प्रबंधन में भी पहुँच जाता था. मैनजमेंट के स्कूल नहीं थे. कॉमर्स वाले अकाउंटेंट बन सकते थे. साइंस पढ़ने पर भी कुछ ख़ास अवसर नहीं थे. हाँ, इंजीनियरिंग वालों के लिए संभावनाएँ थीं. पर कितनी? इंजीनियरिंग सिखाने के संस्थान ही कितने थे! आज हर तरफ़ उच्च तकनीकी शिक्षा के लिए मारामारी. नए से नए कालिज खुल रहे हैं. मैनेजमेंट, इंजीनियरिंग, कम्प्यूटर छात्रों को अंतिम वर्ष पार करने से पहले ही दुनिया के इंडस्ट्रियलिस्ट मुँहमाँगे इन्कम पैकेज पर रखने को मुँह फाड़े खड़े रहते हैं. इस के पीछे देश में अँगरेज़ी जानने पढ़ने और लिखने वालों की बेहद बड़ी संख्या होना है. मध्य वर्ग की संख्या और ख़रीद शक्ति का विस्तार हुआ है. सब से पहले मोबाइल उसके पास आए. एक से एक बढ़िया माल उसे मिल सकता है. कम्प्यूटर इंटरनेट जीवन का आवश्यक अंग है. बहुत सारी ख़रीद फ़रोख्त वह ऑनलाइन करता है. हवाई जहाज़ का टिकट ख़रीदता, न्यूयार्क में होटल बुक करता है. नई से नई कारों के मॉडल उसके पास हैं. क्रैडिट कार्ड एटीएम.

सब का असर भाषा पर न पड़े, यह संभव नहीं था. आज़ादी के बाद हिंदुस्तान ने और हिंदी ने कट्टर अंगरेज़ी विरोध का युग देखा. हम चाहते थे, अँगरेज़ी का कोई

शब्द हमारी भाषा में न हो. ऐसी हिंदी बने जिस में किसी और बोली का पुट न हो. लेकिन दुनिया में ऐसा कभी होता नहीं है कि कोई भाषा दूसरी भाषाओं से अछूती रहे. अँगरेज़ी का पहला आधुनिक कोश बनाने वाले जॉनसन का सपना था कि अपनी भाषा को इतना शुद्ध और सुस्थिर कर दे कि उस में कोई विकार न हो. यही सपना अमेरिका में कोशकार वैब्स्टर ने भी देखा था. उन की अँगरेज़ी आज हर साल लाखों नए शब्द दुनिया भर से लेती है !

आज हिंदी रघुवीरी युग से निकल कर नए आयाम तलाश रही है. अँगरेज़ी शब्दों का होलसेल आयात कर रही है, बस यही परेशानी है जो शुद्धतावादियों की पेशानी को परेशान कर रही है. कहा जा रहा है, हिंदी पत्रकारिता भाषा को भ्रष्ट कर रही है. टीवी चैनलों ने तो हद कर दी है ! कुछ का कहना है कि यह विकृत भाषा मानवीय संवेदनाओं को छिछले रूप में ही प्रकट कर सकने की क्षमता रखती है, इस से अधिक नहीं. उन्हें डर है हिंदी घोर पतन की कगार पर है. वह अब फिसली, अब फिसली...और...उन्हें लगता है कि वह दिन जल्दी आएगा, जब कह सकेंगे–लो फिसल ही गई !

वे लोग भूल जाते हैं कि हिंदी लगातार बढ़ती रही है, तो इस लिए कि वह पिछली दस सदियों से अपने आप को हर बदलते समय के साँचे में ढालती रही, नए समाज की नई ज़रूरतों के अनुसार नई शब्दावली बना कर या उधार ले कर समृद्ध होती रही है. आज़ादी के बाद नए से नए सृजन आंदोलनों से यह समृद्ध हुई, सजीव बहसों से गुज़री. इन बहसों में जो गरिष्ठ हिंदी तथाकथित विद्वान लिखते थे, वह कठिनतम भाषाओं के उदाहरण के रूप में पेश की जा सकती है. इसी रुझान में रेडियो के समाचारों में जो हिंदी सुनने को मिलती थी, वह सब के सर से उतर जाती थी. भाषाई आयोगों और रघुवीरी कोशों को आर्थिक सहायता देने वाले पंडित नेहरू शिकायत करते सुने जाते थे कि यह हिंदी वह नहीं समझ पा रहे. पर विद्वज्जन (!) यह कह कर टाल देते कि परिवर्तन के दौर में ऐसा तो होता ही है. एक दिन आदमी यही भाषा बोलने लिखने लगेगा. ऐसा हुआ नहीं.

हिंदी को विश्वनाथ जी का योगदान...

मेरा सौभाग्य है कि पिछले बासठ सालों से (1945 से) मैं मुद्रण, पत्रकारिता (*सरिता, कैरेवान, मुक्ता, माधुरी, सर्वोत्तम रीडर्स डाइजैस्ट*) से जुड़ा रहा हूँ. पत्रकार, लेखक, अनुवादक, कला-नाटक-फ़िल्म समीक्षक होने के नाते अनेक क्षेत्रों से मेरा साबक़ा पड़ा. दिल्ली में रंगमंच से सक्रिय संपर्क रहा, और मुंबई में फ़िल्मों की दुनिया को निकट से देखने का मौक़ा मिला. इस का लाभ हुआ भिन्न विधाओं की भाषा समस्याओं को नज़दीक से देखना, समझना. चाहे तो कोई भाषा को कितना ही गरिष्ठ बना सकता है. लेकिन पाठक को दिमाग़ी बंदहज़मी करा के न लेखक का कोई लाभ होता है, न पाठक लेखक की बात पचा पाता है–यह पाठ मुझे पत्रकारिता और लेखन में मेरे गुरु

सरिता-कैरेवान संपादक विश्वनाथ जी ने शुरू में ही अच्छी तरह पढ़ा दिया था.

हिंदी साहित्यक दुनिया में विश्वनाथ जी का नाम कभी कोई नहीं लेता. सच यह है कि 1945 में सरिता का पहला अंक छपने से लेकर अपने अंतिम समय तक उन्होंने हिंदी को, समाज को, देश को जो कुछ दिया वह अप्रशंसित भले ही रह जाए, नकारा नहीं जा सकता. उन्होंने भाषा का जो गुर मुझे सिखाया, वह अनायास मिला वरदान था.

सरिता के संपादन विभाग तक मैं 1950 के आसपास पहुँचा. उपसंपादक के रूप में मैं हर अंक में बहुत कुछ लिखता था. विश्वनाथ जी मेरे लिखे से ख़ुश रहते थे. मेरे सीधे सादे वाक्य उन्हें बहुत अच्छे लगते थे. लेकिन कई शब्द? एक दिन उन्होंने मुझे अपने कमरे में बुलाया, पूछा, *"क्या तेली, मोची, पनवाड़ी, ये ही क्यों क्या आम आदमी, विद्वानों की भाषा समझ पाएगा? क्या यह विद्यादंभी विद्वान तेली आदि की भाषा समझ लेगा?"* स्पष्ट है मेरे पास एक ही उत्तर हो सकता था : विद्वान की भाषा तो केवल विद्वान ही समझेंगे, आम आदमी की भाषा समझने में विद्वानों को कोई कठिनाई नहीं होगी. थोड़े से शब्दों में विश्वनाथ जी ने मुझे संप्रेषण का मूल मंत्र सिखा दिया था. जिससे हम मुख़ातिब हैं, जो हमारा पाठक श्रोता दर्शक आडिएंस है, हमें उसकी भाषा में बात करनी होगी.

मुझ से उस संवाद का परिणाम था कि विश्वनाथ जी ने *सरिता* में नया स्थायी स्तंभ जोड़ दिया : *यह किस देश प्रदेश की भाषा है?* इस में तथाकथित महापंडितों की गरिष्ठ, दुर्बोध और दुरूह वाक्यों से भरपूर हिंदी के चुने उद्धरण छापे जाते थे. उन पर कोई कमेंट नहीं किया जाता था. इस शीर्षक के नीचे उन का छपना ही मारक कमेंट था.

जीवंत समाज और भाषा बदलते रहते हैं. हिंदुस्तान बहुत बदला है, बदल रहा है. हिंदी बदली है, बदल रही है, बदलेगी. मैं समझता हूँ न बदलना संभव नहीं है. न बदलेगी तो इस की गिनती संस्कृत जैसे मृत भाषाओं में होगी, जिससे विद्रोह कर गोस्वामी तुलसीदास ने *रामचरित मानस* की रचना 'भाषा' में की. मैं संस्कृत भाषा की समृद्धता के विरुद्ध कुछ नहीं कह रहा हूँ. संस्कृत न होती तो हमारी हिंदी भी न होती. हमारे अधिकतर शब्द वहीं से आए हैं, कभी तत्सम रूप में, तो कभी तद्भव रूप में. संस्कृत जैसे शब्दों की हमारी एक बिल्कुल नई कोटि भी है. वे अनगिनत शब्द जो हम ने बनाए हैं, लेकिन जो प्राचीन संस्कृत भाषा और साहित्य में नहीं हैं. यदि हैं तो भिन्न अर्थों में हैं. इन नए शब्दों का आधार तो संस्कृत है पर इन की रचना बिल्कुल नए भावों को प्रकट करने के लिए की गई है. इन्हें संस्कृत शब्द कहना ग़लत होगा. ये आज की हिंदी की पहचान बन गए हैं. उदाहरण के लिए अंगरेज़ी के *कोऐग्ज़िटेंस* का हिंदी अनुवाद *सहअस्तित्व*. यह किसी भी प्रकार संस्कृत शब्द नहीं है. संस्कृत में इसे *सहास्तित्व* लिखा जाता. इस शब्द के पीछे जो भाव है वह भी संस्कृत में इस विशिष्ट संदर्भ में नहीं मिलेगा. इन शब्दों को हम नवसंस्कृत कह सकते है.

इंडिया में न्यू हिंदी : रघुबीरी को ढूंढ़ते रह जाओगे !

ख़ुशी की बात यह है कि अब हिंदी शुद्धताऊ प्रभावों से मुक्त होती जा रही है, और रघुबीरी युग को बहुत पीछे छोड़ चुकी है. पत्रकार अब हर अँगरेज़ी शब्द का अनुवाद करने की मुसीबत से छूट चुके हैं. वे एक जीवंत हिंदी की रचना में लगे हैं. *आतंकवादी* के स्थान पर अब वे *आतंकी* जैसे छोटे और सार्थक शब्द बनाने लगे हैं. उन्होंने बिल्कुल व्याकरण असंगत शब्द *चयनित* गढ़ा है, लेकिन वह पूरी तरह काम दे रहा है. आरोप लगाने वाली *आरोपी* का प्रयोग वे *आरोपित व्यक्ति* के लिए कर रहे हैं. अगर पाठक उनका मतलब सही समझ लेता है, यह भी क्षम्य माना जा सकता है. तकनीकी शब्दों या चीज़ों या नई प्रवृत्तियों के नाम के अनुवाद में सब से बड़ी समस्या एकरूपता की होती है. कोई रेडियो को *दूरवाणी* लिखेगा, कोई *आकाशवाणी,* कोई *नभवाणी,* तो कोई *विकीर्ण ध्वनि*...मेरी राय में नए अन्वेषणों का अनुवाद अनुपयुक्त प्रथा है. *स्पूतनिक* का अनुवाद नहीं किया जा सकता. *गाँधी चरखे* या *अंबर चरख़े* को अँगरेज़ी में इन्हीं नामों से पुकारा जाएगा. इंग्लैंड में आविष्कृत कताई मशीन *स्पिनिंग जैनी* को हिंदी में *कतनी छोकरी* नहीं कहा जा सकता. ख़ुशी है कि रेलगाड़ी को *लौहपथगामिनी* लिखने वाले अब नहीं बचे.

दैनिक पत्रों के मुक़ाबले टीवी की तात्कालिकता निपट तात्कालिक होती है, विशेषकर समाचार टीवी में. यह तात्कालिकता ही हमारी भाषा के नए सबल साँचे में ढलने की गारंटी है. नई भाषा की एक ख़ूबी है कि वह नई जीवन शैली जीने को उत्सुक नवयुवा पीढ़ी की भाषा है. यह पीढ़ी 1947 के भारत की हमारी जैसी पीढ़ी नहीं है. पर मुझ जैसे अनेक लोग हैं जो इस बदलाव के साथ बदलते आए हैं और बदलते ज़माने के साथ बदलते रहे हैं और अपने आप को उसके निकट पाते हैं.

मैं नहीं समझता कि हिंदी पत्रकारिता की भाषा भ्रष्ट हो गई है. मैं तो कहूँगा कि वह हर दिन समृद्ध हो रही है. नए समाज में नौजवानों की अपनी भाषा बदल गई है. एक ज़माना था कि हिंदी समाचार पत्र दुकानदारों, नौकरों और कम पढ़े-लिखे लोगों के अख़बार माने जाते थे. आज हिंदी पत्रकार नई नौजवान पीढ़ी के लिए अख़बार निकाल रहे हैं. उन में शिक्षा के, रोज़गार के नए अवसरों की जानकारी होती है. नई बाइकों, कारों की जानकारी होती है. कभी देखा था इन्हें हिंदी दैनिकों में !

नए ज़माने के नए शब्द बेहिचक, बेखटके, बेधड़क, निश्शंक, पूरे साहस के साथ ला रही है. दो-तीन दिन के *हिन्दुस्तान* और *दैनिक जागरण* से कुछ शब्द देता हूँ : *हॉट शॉट, बॉलीवुड, ट्रेलर, चैनल, किरदार, समलैंगिक...,* *एसजीपीसी* (शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक सीमित) *दिल्ली विवि* (विश्वविद्यालय), *रजिस्ट्रार, फ़्लाईओवर, स्टेडियम, पासवर्ड, इनफ़ोटेनमैंट, सब्स्क्राइबर, नैटवर्किंग, डायरैक्ट टु होम (डीटीएच). सेंट्रल लाइब्रेरी, ओपन स्कूल, हाईवे, इन्वेस्टमैंट मूड, प्रॉपर्टी, लिविंग स्टाइल, लोकेशन,*

शॉपिंग सेंटर...

21 वीं सदी के हिंदुस्तान ने गुलामी के दिनों के अंधे अँगरेज़ी विरोध वाली मैंटलिटी से छुट्टी पा ली. नई सोसाइटी में रीडर बदल रहे हैं, भाषा बदल रही है. परिवर्तन को सब से पहले पहचाना मीडिया ने. उसकी शैली बदल गई, भाषा बदल गई, नीति बदल गई. टीवी वाले तात्कालिकता के साथ नई सरपट ज़बान में भड़भड़ गाड़ी दौड़ाते हैं.

पेश हैं हिंदी न्यूज़पेपर अब जो छाप रहें हैं, उसके कुछ नमूने–

हाई कोर्ट का आयोग से जवाबतलब (कहाँ गया उच्च न्यायालय?)...***कोर्ट*** ने ***ओबीसी*** की पहचान का आधार पूछा...***जस्टिस*** अरिजीत पसायत...आंबेडकर ***यूनिवर्सिटी*** के ***वीसी*** हटाए गए...गुजरात के दंगों में ***बीजेपी*** के दो पार्षदों को सज़ा (भाजपा नहीं)...पेट्रोल में ***सॉल्वेंट*** की मात्रा इतनी अधिक मिला देते हैं कि ***हाईटेक*** कार भी...***एडमिशन*** शुरू होने से पहले (प्रवेश या दाख़िला नहीं)...***डीयू*** (दिल्ली विश्व-विद्यालय) के ***अंडरग्रेजुएट कोर्सों*** में...***प्री-एडमिशन फ़ॉर्म*** व ***इनर्फ़मेशन बुलेटिन... स्टूडैंट्स*** को...(छात्र अब कितने लोग बोलते हैं?)...***इंटैग्रेडिट टाउनशिप प्रोजेक्ट... इंटरनेट सर्फ़िंग*** आसान होगी ***पाकिट सर्फ़र*** से...***पाकिट सर्फ़र लॉन्च*** किया...***कस्टमर*** बिना किसी ***सेल्यूलर*** या ***लैंडलाइन मोडेम*** से जोड़े...इंटरनेट सर्फ़िंग कर सकता है...***अक्रॉस दे बॉडर्र...विंडो शॉपिंग***...बात थोड़ी ***सीरियस*** हुई...मेरी ***हैक्टिक लाइफ़***...तबीयत ख़राब होने के बाद ***रिकवरी***...कैसे ***ऑर्गनाइज़*** करें ***परफ़ेक्ट पार्टी...***

कुछ इसे महापतन मानते हैं. लेकिन नई पीढ़ी को इस की ज़रा भी चिंता नहीं है. वे लोग भाषा कोश देख कर नहीं बोलते, न उन्हें अपने आप को विद्वानी हिंदी का दिग्गज साबित करना है.

ऐसा भी नहीं है कि हिंदी में अपने नए शब्द नहीं बन रहे. सच यह है कि भाषा विद्वान नहीं बनाते, भाषा बनाते हैं भाषा का उपयोग करने वाले...आम आदमी, मिस्तरी, करख़नदार या फिर लिखने वाले. *घुड़चढ़ी* शब्द डॉक्टर रघुवीर नहीं बना सकते थे, न ही वे *मुँहनोंचवा* बना सकते हैं. कार मेकेनिकों ने अपने शब्द बनाए हैं, पहलवानों ने कुश्ती की जो शब्दावली बनाई है (कुछ उदहारण : *मरोड़ी कुंदा, मलाई घिस्सा, भीतरली टाँग, बैठी जनेऊ)* वह कोई भी भाषा आयोग नहीं बना सकता था. विद्वानों का काम होता है भाषा का अध्ययन, विश्लेषण...अख़बारों में नई देशज हिंदी शब्दावली भी बन रही है. नए ठेठ हिंदी शब्द विद्वान नहीं बना रहे. हिंदी लिखने वाले बना रहे हैं–जैसे कबूतरबाज़ी. अँगरेज़ी ह्यूमैन ट्रैफ़िकिंग के लिए पूरी तरह देशी शब्द. ग़ैरक़ानूनी तरीक़े से, पासपोर्ट वीज़ा नियमों को तोड़ते हुए हिंदुस्तानियों को पश्चिमी देशों तक पहुँचाने का धंधा. या फिर ब्लौगिया या चिट्ठाकार, और चिट्ठाकारिता. इंटरनेट की दुनिया से आम आदमी द्वारा उपजे शब्द. अँगरेज़ी में इंटरनेट पर लिखने और परस्पर

विचारविमर्श बहसाबहसी की प्रथा को पहले वैबलौगिंग कहा गया, बाद में उससे बना ब्लौगिंग. उसी से दुनिया भर में फैले आम हिंदी प्रेमी ने ये शब्द बनाए हैं, ब्लौगिंग करने वाला ब्लौगिया, ब्लौग (यानी लिखा गया कोई विचार) चिट्ठा, पुराने चिट्ठा और चिट्ठी को दिया गया बिल्कुल नया अर्थ. क्या कोई विद्वान ये शब्द बना पाता?

इंग्लिश में कहीं हिंग्लिश, कहीं पूरी हिंदी...

अगर हिंदी वाले अँगरेज़ी शब्द भारी मात्रा में आयातित कर रहे हैं, तो अँगरेज़ी तो बहुत पहले से ही हिंदी शब्द खुले दिल से लेती रही है...*pucca kutcha* (पक्का कच्चा) आदि शब्द पुराने उदाहरण हैं. आजकल भारतीय अँगरेज़ी में स्थानीय शब्दों और मुहावरों का प्रयोग बड़े पैमाने पर हो रहा है. जो नई भाषा बन रही है, उसे लोग हिंग्लिश कहने लगे हैं. हिंग्लिश तब होती है जब कहीं कोई एक शब्द लिखा जाए जैसे fake *gajra, desi* chick. अब पूरे के पूरे हिंदी वाक्य आप को रोमन लिपि में लिखे मिल जाँएगे, और कहीं कहीं तो सीधे देवनागरी में, दोनों भाषाओं में यह सब बाज़ार और आडिएँस करवा रही है. पेश हैं कुछ नमूने–

India ka naya TASHAN.... Ab jeeyo poore tashan se! Presenting the Samsung C130.... masaala maar ke...

dil se.... Mujhe hai apni har khata manzoor, bhool ho jati hai insano se... I'm really sorry.... Please forgive me.... Boss ko patana.... Mummy ko samjhana... Girlfriend ko manana.... 2ka mazaa 1 mein.... Buy one and get one free.... सब कुछ सब के लिए....

शब्दावली से जुड़ा एक और पहलू है बोलने की हिंदी और लिखित हिंदी में बढ़ते जाते भेद का. हमारी बोली में ऐसे स्थानों पर अकार का लोप होता जा रहा है जहाँ उच्चारण में यति आती है या अंतिम अक्षर अकारांत अक्षर होता है. हम लिखते हैं कृपया. यह सही भी है. लेकिन बोलते हैं कृप्या. अनेक स्थानों पर आप को यह लिखा मिलेगा. समाचार पत्रों की कृपा है कि वे कृप्या नहीं लिखते...कृपया ही लिख रहे हैं. उत्तराखंड के एक सरकारी विज्ञापन में किसी भ्रमित कापीराइटर ने लिखा– शहीदों को शत् शत् प्रणाम. अगर यह दावा मान लिया जाए कि हिंदी में हमें वैसा ही लिखते हैं, जैसा बोलते हैं, तो शत् प्रतिशत सही !

और अंत में....

तो आइए चेंजिंग भारत की लाइवली वाइब्रैंट बोली और भाषा का हार्टी वैलकम करें, सैलिब्रेट करें, जश्न मनाएँ. उन जर्नलिस्टों पत्रकारों विज्ञापकों के गुण गाएँ जिन्होंने दुनिया में अपनी जगह तलाशते हिंदुस्तान को पहचाना, नई रीडरशिप को टटोला, नब्ज़ को पकड़ा, जो अख़बार कभी दुकानदारों, नौकरों और हिंदी-प्रमियों के ही लिए थे, उन्हें नई जैनरेशन के नौजवानों तक पहुँचाया. नारों को भूल कर यथार्थ को समझा. ❑

सी–18 चंद्र नगर ग़ाज़ियाबाद–201011, 9312760129-0120 4110655

लज़ीज़ बूद हिकायत, दराज़तर गुफ़्तम

अतहर फ़ारूक़ी

शेष-51 से आगे :

स्पेनी अदब के तालिबे-इल्म प्रत्यूषचंद्र ने मेहनतकशों के हक़ में ज़बानी जमा-ख़र्च के आर्ट पर इस दरजा महारत हासिल कर ली कि दुनिया के हर बुरे काम के लिए अमेरिका को कोसने वाले अपने उस अज़ीज़ दोस्त से जब मैंने बग़ैर किसी तन्ज़ या उपहास के ये पूछा कि आख़िर उसके पास इसका क्या जवाज़ (औचित्य) है कि उसकी बीवी अमेरिकी फ़ैलोशिप पर रिसर्च करने अमेरिका जा रही है, तो उसने बिला झिझक कहा कि आख़िर अमेरिकी यूनिवर्सिटियों में फ़ेलोशिप होल्डर भी तो मज़दूर हैं. उसने ये बात उसी विश्वास से कही जो मासूमों से ज़िना करते वक़्त मुल्लाओं के चेहरे पर होता है. आख़िर-आख़िर प्रत्यूष के कई रोमानी तसव्वुरात में से एक ये भी था कि इन्फ़ार्मेशन टेक्नोलोजी के मैदान में बरसरे-कार इन आई.टी.प्रोफ़ेशनल्स के मस्अलों पर इंटरनेट पर गुफ़्तगू होनी चाहिए जो सारी दुनिया में बरसरे-कार हैं. *ये अज़ीज़ ज़मीन पर यानी अवाम के दरमियान, मेहनतकशों के दरमियान काम करने के बजाए इस मौज़ू' पर नज़रियाती बहस का इस दरजा क़ायल था कि उसके यहां बहस हर अमल का बदल बन गयी थी. उसका ये नज़रीया आहिस्ता-आहिस्ता एक ऐसे भरोसे में बदल गया कि जो वो सोचता है, बस वही दुरुस्त है. आजकल वो अमेरिका में है जहां उसकी बीवी लैंग्वेजेज में रिसर्च कर रही है. वो लड़की (पृथा चंद्र) हिंदुस्तान में भी 'लिसानियात' के उस बदतरीन गिरोह में शामिल थी, जो इसके नाम पर हर तरह की माली, ग़ैर अख़लाक़ी और इल्मी गड़बड़ियों में उन तवाइफ़ों से भी ज़्यादा सफ़्फ़ाक है. मासूम बच्चियों की नथ उतराई का तमाशा देखना जिनका महबूब मशग़ला है. आखिर अमेरिकी भाषा-ज्ञान में भी तो मार्क्सी नज़रीयात की तब्लीग़ (प्रचार) के लिए कोई होना चाहिए और उसे ज़ेहनी तौर पर उतना ही बेईमान होना चाहिये जितनी*

पृथाचंद्र है. अब बग़ैर किसी वजह के हमारे दरमियान कोई राबिता (संपर्क) नहीं. जाती मुफ़ादात (हितों) का टकराव न हो तो नज़रीयाती इख़्तिलाफ़ इस तरह भी ज़ुहूर-पज़ीर (प्रकट) होते हैं. प्रत्यूष के दूसरे हमनज़रीया भाई (कज़िन) ने जब बंगलादेशी लड़की से शादी की, तो बाएं बाज़ू के नज़रीयात से वाबस्ता दोस्तों को एक बड़ा सादा कार्ड मिला, मगर बंगला वतनीयत के हमनवाओं को एक बिल्कुल मुख़्तलिफ़: पुरशिकोह और अंग्रज़ी के साथ बंगला में छपा हुआ. शादी रिवायती बंगला अशराफ़ के तर्ज़ पर भव्य तरीक़े से एक ऐसे इलाक़े में हुई जहां सिर्फ़ बंगला तहज़ीबी शनाख़्त की इजारेदारी है. बंगला वतनीयत के सांस्कृतिक एहसासे-बरतरी से लेकर शादियों के लिबास की समाजीयात पर हमारा ये अज़ीज़ दोस्त भी, जिसकी शादी का ये क़िस्सा है, अपने बचाव में मार्क्सी नज़रीये से कई रोज़ लगातार और बेतकान बहस कर सकता है.

जिन दो दोस्तों, प्रत्यूषचंद्र और रवि का ज़िक्र मैं कर रहा हूं, वो मामूं या फूफीज़ाद भाई हैं. रवि का सगा भाई देहली के किसी अंग्रेज़ी मीडियम स्कूल में टीचर था. उस पर एक बच्चे के मां-बाप ने अप्राकृतिक मैथुन का इल्ज़ाम लगाया. बज़ाहिर ये इल्ज़ाम किसी ग़लतफ़हमी पर मब्नी था और स्कूल के अधिकारियों की हमदर्दियां रवि के भाई के साथ थीं. मुआमले के पुलिस में पहुंचने से पहले मेरी उन दोस्तों से बात हुई. मेरी मश्वरा था कि बच्चे के मां-बाप से बात की जाए, मगर प्रत्यूषचंद्र ने कहा कि अस्ल बात ये नहीं कि उसके कज़िन पर ये इल्ज़ाम क्यों लगा, बल्कि अहम ये है कि पहले इस तरह के स्कूलों के निज़ाम पर, उनके अंदरूनी ढांचे पर बहस होनी चाहिए. मैंने समझाने की कोशिश की कि ये बहस बाद में कर लेंगे, पहले मस्अले से निमटें, मगर मैं प्रत्यूष को क़ायल न कर सका. आख़िर वो लड़का जेल चला गया और ज़मानत से पहले तक़रीबन 5-6 महीने उसने वहां गुज़ारे और इस अर्से में ज़ब भी प्रत्यूष से मुलाक़ात होती, तो वो बताता कि जल्द ही इस मस्अले पर फ़ुलां जगह उसके हमनज़रीया दोस्तों की मीटिंग होगी. ज़ाहिर है कि इन बहसों ने स्कूल के निज़ाम पर ख़ुसूससन और ता'लीम के निज़ाम पर उमूमन किसी बहस का आग़ाज़ ख़ुद कम्युनिस्टों के उस ग्रुप के दरमियान भी नहीं किया, जो प्रत्यूष के हमनज़रीया कॉमरेडों का था. ये बात भी दिलचस्प है कि *जब ख़ुद प्रत्यूष की बीवी को अमेरिका जाना था, तो उसने अमेरिकी सरमायादाराना निज़ाम को किसी ज़ाविये पर कभी किसी बहस की बात नहीं की. अमेरिका में बाएं बाज़ू की इल्मी रिवायत और उस ज़ाविये से लिसानियात के मुतालअे (अध्ययन) पर भी गुफ़्तगू का ख़याल कभी उसके ज़ेहन में नहीं आया. बस, उसकी बीवी ने स्कॉलरशिप ली जिसके लिए दोनों मियां-बीवी ने कोई एक बरस से ज़्यादा दिन रात कोशिश की. अब दोनों अमेरिकी सरमायादाराना निज़ाम की बरकतों से फ़ैज़याब (लाभान्वित) हो रहे हैं. हिन्दुस्तान वापस आकर*

बीवी इल्मी सियासत करेगी और शौहर किसी और क़िस्म की बाएं बाज़ू की लफ़्फ़ाज़ी पर मब्नी दुकानदारी. इस पर जो बात करेगा, उससे वो निमट लेंगे. किसी शाइर ने बिल्कुल ऐसे ही लोगों के लिए कहा है:

पी शौक़ से वाइज़ अरे क्या बात है डर की
दोज़ख़ तिरे क़ब्ज़े में है जन्नत तिरे घर की

एक और मौक़े पर मैं उर्दू तालीम के मौज़ू' पर एक इंटरनेशनल कान्फ्रेंस का इन्झिक़ाद (आयोजन) कर रहा था. ख़ुदसताई (आत्म-प्रशंसा) से क़त्अ-ए-नज़र हिंदुस्तान में उर्दू ता'लीम से मुता'ल्लिक़ मफ़रूज़ात (अवधारणाओं) को मिस्मार (ध्वस्त) करने और फ़ंक्शनल लैंग्वेज के तौर पर उर्दू का एजेंडा निर्धारित करने में कहा जाता है कि ये कान्फ्रेंस संगे-मील की हैसियत रखती है. मैंने प्रत्यूष से एक पर्चा लिखने को कहा. वो पूरे एक बरस मौज़ू' पर बहस करता रहा. मैं पहले दिन से कह रहा था कि मार्क्सी नज़रीये से तुम ज़बान के रोल को जिस तरह देखते हो, उस पर मज़्मून लिख दो. बहरहाल उसने मुस्लिम शनाख़्त के हवाले से एक मज़्मून लिखा जिसमें उर्दू का ज़िक्र कुछ इस तरह था जैसे एक मशहूर लतीफ़े के मुताबिक़ एक मुस्लिम साइंसदां को जर्मनी में उर्दू अदब पर लेक्चर देना था. लेक्चर के दरमियान वो अदब के मुता'ल्लिक़ अपनी आम समझ को साइंस से जोड़ते हुए दरमियान में बार-बार किसी न किसी उन्वान से इक़्बाल और गोयटे का ज़िक्र कर देता था. उर्दू का यही हाल इस अज़ीज़ के मज़्मून में हुआ था. उस मज़्मून की इल्मी बुनियाद मेरी समझ में आयी ही नहीं, क्योंकि उसका बज़ाहिर और ब:बातिन भी उर्दू से कोई ता'ल्लुक़ न था. बाद में मालूम हुआ कि अमेरिका से शाए' होने वाला एक ऐसा जरीदा जिसमें उस अज़ीज़ जैसे ही मार्क्सी बुक़रात लिखते हैं, शनाख़्त के हवाले से कोई ख़ुसूसी शुमारा शाए' कर रहा था और मज़्मून उर्दू के मस्अलों पर हिंदुस्तान में बहस व ख़ुलासे के आग़ाज़ की ग़रज़ से नहीं, बल्कि उस जरीदे में इशाअत (प्रकाशन) के लिए लिखा गया था.

मैंने फिर भी ये सोचा कि मैं तो कमइल्म आदमी हूँ, इस मज़्मून मे मुस्लिम शनाख़्त के ताल्लुक़ से तो ऐसी आलिमाना बातें ज़रूर होंगी, जो किताब के मौज़ू' से किसी तरह का ताल्लुक़ रखती हों. मैंने जब सेमिनार के मज़्मून किताबी शक्ल में ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस को भेजे और माहिरीन के ज़रिए उनकी क़द्रशनासी (मूल्यांकन) के बाद जब मुझे माहिरों के ख़यालात से आगाह किया गया, तो उस अज़ीज़ का मज़्मून ही वो अकेला मज़्मून था जिसके बारे में लिखा गया कि ये मज़्मून इस क़दर आलिमाना है कि इसमें कोई ठोस मवाद (सामग्री) मौजूद ही नहीं.

ये मिसालें किसी के लिए यूं अहम होंगी कि किसी भी ज़ेहन पर सिर्फ़ उन शख़्सियतों का ही असर होता है जिनसे ज़ाती राबिते के बाद उनके क़ौलो-फ़ेल (कथन व कृत्य) में तज़ाद (विरोधाभास) नज़र न आए. ज़िंदगी में मिसाली नमूने अगर न

हों, तो मुझे नहीं लगता कि कोई नज़रीया अपनी तब्लीग़ कर सकता है. *मज़हब की तरफ़ मेरी इब्तिदाई रग़बत (रूचि) मुसलमान घराने में पैदा होने की वजह से फ़ितरी थी, मगर कम्युनिस्ट पार्टी से नज़रीयाती वाबस्तगी मन्तक़ी (तार्किक) और शुऊरी तौर पर इख़्तियारकर्दा अमल. मैंने बेअमल लफ़्फ़ाज़ी और ज़ाती फ़ायदों के लिए बेईमानी और बदकिरदारी की किसी भी हद तक जाने के मुआमले, इल्मी काम करने वाले उमूमन यूनिवर्सिटियों से वाबस्ता कम्युनिस्टों में देखे. उनका मुक़ाबला इक़्बाल का मुल्ला नहीं कर सकता.* जब क़ौमी सतह से ज़ाती ज़िंदगी तक सब जगह कम्युनिस्ट status quoist बनते नज़र आए, उनका दोहरा किरदार हर जगह नुमायां हो, उसके लिए बहाने तराशें और हवाले मार्क्सी नज़रीये ही से लाएं तब मुझ ऐसा शख़्स क्या करे, अभी ये समझने की सलाहियत मुझ में नहीं. मुमकिन है, कल सूरत बदल जाए, या फ़िर मैं ही बदल जाऊं, मगर इस वक़्त तो सूरते-हाल बदतर है. बहरहाल जो है, वो है, इस पर मेरा बस नहीं. मेरी समझ में ये भी कभी नहीं आया कि आख़िर हिंदुस्तान के मार्क्सवादी रूस और चीन की उन हिमाक़तों का बचाव क्यों करते रहे, जिनका कोई जवाज़ हिंदुस्तानी जुम्हूरीयत में-वो जैसी भी लंगड़ी-लूली है—मौजूद नहीं. मैं ये भी समझने से क़ासिर (असमर्थ) हूँ कि पश्चिमी बंगाल में कम्युनिस्ट हुकूमत क़ायम होने के बाद इस तज्रिबे को अमल के ज़रीए ज़रूरी तरमीमात (संशोधनों) मगर नज़रीयाती पुख़्तगी के साथ अमलन दोहराने के बजाए बंद कमरों में ना समझ में आने वाली अंग्रेज़ी में की गयी बहसों से इस हिंदुस्तान में कौन-सा इन्क़िलाब आएगा, जहां अंग्रेज़ी समझने वाले दो फ़ीसद से ज़्यादा नहीं और अंग्रेज़ीदां लोगों में भी मार्क्सी मुल्लाओं की अंग्रेज़ी बहुत कम लोगों ही की समझ में आती है. नज़रीयाती बहसों, बल्कि लफ़्फ़ाज़ी से मर्कज़ (केंद्र) में हिंदुस्तान की पहली कम्युनिस्ट हुकूमत बनाने का तारीख़साज़ मौक़ा कम्युनिस्टों ने सिर्फ़ इसलिए गंवा दिया कि सीपीएम के पोलित ब्यूरो में नज़रीयाती बहसों के नाम पर जो लोग लफ़्फ़ाज़ी कर रहे थे, वो खुद वज़ीरे-आज़म नहीं बन सकते थे. इन भाषाविदों को आज भी हिंदुस्तान के किसी इंतिख़ाबी हलक़े में एक हज़ार वोट नहीं मिलेंगे. मुझे यक़ीन है कि अगर उस वक़्त ज्योति वसु वज़ीरे-आज़म बन जाते, तो उससे हिंदुस्तान में कम्युनिस्ट निज़ाम की राह तेज़ी के साथ हमवार होती. ख़ुद ज्योति वसु ने सीपीएम के इस फ़ैसले को बड़ी तारीख़ी ग़लती माना था. सीपीएम की देहली में सियासत और जिन्नाती अंग्रेज़ी में लफ़्फ़ाज़ी करने वालों से यह सवाल भी किया जा सकता है कि अगर कम्युनिस्ट वज़ीरे-आजम बनने से इन्क़िलाब की राहें मस्दूद (बाधित) होती हैं, तो फिर पश्चिमी बंगाल में सीपीएम का वज़ीरे-आला क्यों है? केरल में सीपीएम मौक़ा मिलने पर सत्ता में क्यों आ जाती है? शायद इस तारीख़ी ग़लती को कल कम्युनिस्ट तारीख़ मान लेगी, मगर अमल के बजाए बहसें करने मे महारत हासिल कर लेने के रवैये के सबब इस तरह

की ग़लतियां हमेशा होती रहेंगी और बाद में उनका पश्चाताप करने पर इंसानियत मजबूर होगी. सवाल ये है कि इस सूरते-हाल के कारण घाटे में बहरहाल कौन रहेगा? यक़ीनन वो आदमी जो समाज पर मार्क्सवादी विचारधारा के नतीजे में शोषण की लानत से नजात पा सकता है और समाज में तबक़ाती लानत कम से कम हो जाएगी. मार्क्सी नज़रिये के वर्चस्व के सवाल पर मार्क्सी मुल्ला ये कहेंगे कि कौन-सा मार्क्सी निज़ाम? वो जिसके नतीजे में इन्क़िलाब आने के बाद ट्रोटस्की को बेदख़ल कर दिया गया था या फिर वो, जिसके नतीजे में स्टालिन ने सत्ता की बागडोर संभाली. वैसे कम्युनिस्टों में स्टालिन के प्रशंसकों की भी कमी नहीं. मार्क्सी मुल्लाओं ने मार्क्सवादी विचारधारा को भी इतने ख़ानों में बांटा है कि अस्ल मार्क्सवाद जो मार्क्स, एंगेल्स व लेनिन की तहरीरों में पाया जाता है, व्याख्याकारों के विश्लेषण की धुंध में कहीं खो गया है और उस धुंध में जो चीज़ रोज़े-रौशन की तरह दिखायी देती है, वो सिर्फ़ बेअमली है.

1988 में एम.फ़िल के छात्र के तौर पर मैं दोबारा हिंदुस्तानी ज़बानों के मर्कज़ जेएनयू में लौट आया. शो'बे में सबसे अहम नाम प्रो. मुहम्मद हसन का था जो एक लंबी मुद्दत तक तरक़्क़ीपसंद तहरीक से वाबस्ता रहने के बाद उन दिनों कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया (मार्क्सवादी) के अदबी प्लेटफ़ार्म : जनवादी लेखक संघ से जुड़े थे. मुहम्मद हसन अतीत में भी उर्दू के कई इदारों (मसलन : उर्दू अकादमियों) के सरबराह रह चुके थे. ज़बान की सियासत और उर्दू के हवाले से ता'लीम के कुल मंज़रनामे (परिदृश्य) पर उनकी गहरी नज़र थी. वो इस बात से भी बख़ूबी वाक़िफ़ थे कि सेकूलर पाठ्यक्रम से उर्दू का निकास और स्कूलों की ता'लीम में उर्दू की ग़ैर मौजूदगी उर्दू की तबाही की बड़ी वजहें हैं इसी लिए उर्दू की आ'ला ता'लीम और अदब व कल्चर की तरक़्क़ी के इदारों (यानी यूनिवर्सिटियों के उर्दू डिपार्टमेंट और उर्दू अकादमियां वग़ैरह) के बारे में उनका ये जुम्ला मशहूर हो गया था कि उर्दू की तरक़्क़ी के नाम पर हुकूमत के ये इदारे जो कुछ कर रहे हैं, वो उर्दू की जड़ों को सूखा कर पेड़ के ऊपर बनावटी फूल-पत्तियां सजाने जैसा है. मगर उर्दू के हक़ीक़ी मसाइल की समझ रखने वाले प्रो. मुहम्मद हसन को मैंने 1986 से (जब मैं जेएनयू से Advanced Diploma in Mass Media करने आया था) 1990 में एम.फ़िल का पेपर मुकम्मल करने तक, न तो कभी क्लास लेते हुए देखा और न ही शोबे की किसी दूसरी इल्मी सरगर्मी में शरीक पाया. जेएनयू आने के बाद उनसे मेरा ज़ाती राबिता भी बहुत ही कम रहा. उनके पास छात्रों के लिए तो वक़्त ही न था. मर्कज़ यानी शोबे में आते भी बहुत कम थे, यूनिवर्सिटी का मकान भी नहीं लिया था और किराये के मकान में शहर के परले सिरे पर रहते थे. दाख़िले के ज़बानी इतिम्हान (Viva) में वो उस वक़्त भी

शरीक न होते थे, जब खुद मर्कज़ के सरबराह थे. दिलचस्प बात ये है कि 1984 से 1986 में मेरे जेएनयू आने तक उनके साथ मेरे ख़ासे ख़तो-किताबी ता'ल्लुकात थे. मुहम्मद हसन की इदारत में शाए' होने वाले तिमाही 'अस्री अदब' के लिए एक वफ़ादार कम्युनिस्ट की तरह मैं पाबंदी से चंदा जमा करके उन्हें भेजता और 'अस्री अदब' की कापियां सिकंदराबाद में उसके ख़रीदारों तक बड़ी ज़िम्मेदारी से पहुंचाता भी. उनके बारे में एक और दिलचस्प मुशाहदा (अवलोकन) भी मैंने किया कि वो ऐसे किसी काम में कोई दिलचस्पी नहीं लेते थे, जो उन्हें ज़ाती फ़ायदा न पहुंचा सके. पढ़ने-पढ़ाने से लेकर अंजुमने-तरक़्क़ीपसंद मुसन्निफ़ीन और बा'द में जनवादी लेखक संघ से जुड़ाव तक हर महाज़ पर उनकी कारकर्दगी इन मौक़ों के सिवा सिफ़र ही रही, जहां उन्हें ज़ाती फ़ायदा पहुंच सकता था. जहां तक मुझे याद है, 1986 के तालीमी साल में उन्होंने मास मीडिया की सिर्फ़ एक दिन ही क्लास ली और एम. फ़िल का कोर्स वर्क ख़त्म कर लेने के बाद सिर्फ़ उस रोज़ मुझ उनसे मुलाक़ात का शरफ़ (सौभाग्य) हासिल हुआ, जब मेरे आलेख के मौज़ू का मस्अला सामने आया. इसका एतिराफ़ (स्वीकारोक्ति) मगर मैं ज़रूरी समझता हूँ कि मास मीडिया की जो एक क्लास मुहम्मद हसन ने ली थी, वो आज भी ज़ेहन पर नक़्श है. मालूम होता था कोई माहिर जर्राह (सर्जन, चीरफाड़ करने वाला) अपने तेज़ धार आले से अवधारणाओं की खाल को इस महारत से उतार रहा है कि उसकी जगह इल्मी अवधारणाओं की ज़िंदा खाल अज़ खुद ले लेगी. अफ़सोस कि इस इतने अच्छे उस्ताद ने अच्छे शागिर्दों की खेपें तैयार करने के बारे में कभी सोचा ही नहीं. कम्युनिस्ट पार्टी से मेरी वाबस्तगी के सबब मुहम्मद हसन साहब को इस्रार था कि मैं एम. फ़िल का आलेख उनकी निगरानी में लिखूं.

मर्कज़ के दूसरे अहम उस्ताद प्रो. सदीकुर्रहमान क़िदवाई थे. क़िदवाई खानदान रिवायती तौर पर कांग्रेस का वफ़ादार समझा जाता है. उत्तर भारत के रिवायती मुस्लिम अशराफ़ के मानिंद क़िदवाई साहब तबअन (स्वाभाविक) शरीफ़ आदमी हैं मगर..... क़िदवाई साहब मिज़ाजन वज़अदार आदमी हैं और मुलाक़ात में हमेशा गर्मजोशी दिखाते हैं. कोई तालिबे-इल्म अगर कभी उनके कमरे में पहुंच जाता, तो वो उससे बड़ी मुहब्बत से बातें करते, अक्सर चाय भी पिलवाते, ग़प्पें होतीं और ऐसे मौक़ों पर कोई शिगूफ़ा भी खिल जाता. दूसरों के ज़ेरे-निगरानी काम करने वाले तलबा से क़िदवाई साहब अक्सर मुहब्बत से पूछते कि भई, आपने अपने आलेख का कोई बाब (अध्याय) अभी तक नहीं दिखाया? तालिबे-इल्म सिटपिटा जाते, "सर! मैं आपके साथ नहीं, फुलां साहब के साथ काम कर रहा हूँ."

जब भी असलम परवेज़ साहब के प्रोफ़ेसर बनने का मौक़ा आता, तो मर्कज़ के एक मुहतरम उस्ताद उन्हें प्रोफ़ेसर बनने से रोकने के लिए ऐड़ी-चोटी का ज़ोर लगा

देते थे.

अब ज़िम्नन (प्रसंगवश) ज़िक्र हो जाए, शोबे के उन्हें 'मुहतरम' उस्ताद नसीर अहमद ख़ां का जिनको वाक़िअतन ये भी नहीं मालूम कि उर्दू में कितने वर्णाक्षर हैं और अपनी इस लाइल्मी का एतिराफ़ उन्होंने उर्दू सिखाने वाली अपनी एक किताब में तहरीरी तौर पर भी किया है ताकि सनद रहे. बदक़िस्मती से किताब अंग्रेज़ी में है जो किसी कम सलाहियत तालिबे-इल्म से-उर्दू से-तर्जुमा करायी गयी थी. किताब पर तब्सिरा करते हुए (उस वक़्त) शिकागो यूनिवर्सिटी के उस्ताद प्रो. चौधरी मुहम्मद नईम ने दीगर बातों के इलावा एक ख़ास बात ये कही कि ये किताब हालांकि अंग्रेज़ी जानने वाले लोगों को उर्दू सिखाने के लिए लिखी गयी है, मगर ये सिर्फ़ उन ही लोगों की समझ में आएगी जिन्हें उर्दू आती है. तब्सिरे का ख़ात्मा इस दुआ पर होता है कि ख़ुदा करे ये किताब किसी तालिबे-इल्म तक न पहुंचे. क्लास में नसीर अहमद ख़ां ऐसी जाहिलाना बातें आम तौर पर करते थे जो एम.ए., एम.फ़िल के तलबा के लिए सख़्त ताज्जुब का बाइस होतीं. मसलन, वो बड़े एतिमाद से ऐलान करते, हाली की दो मशहूर नज़्में हैं ....मुसद्दसे-हाली और मद्दो-जज़िरे-इस्लाम. एक और मौक़े पर भाषा-विज्ञान के अपने नामनिहाद इल्म का मुज़ाहरा करते हुए उन्होंने इक़्बाल के एक मिस्रे..... 'गिरां ख़्वाब चीनी संभलने लगे' में पूरे एतिमाद से 'गिरां' को अलग करके 'ख़्वाब चीनी' को एक संधि के तौर पर न सिर्फ़ पढ़ा, बल्कि उस ख़्वाब-चीनी में मतलब भी डाल दिया और उसका भाषायी विश्लेषण भी कर डाला. नसीर अहमद ख़ां की जहालत तलबा के लिए सख़्त परेशानी का सबब होती. जो तलबा उनके झांसे में आकर अव्वलन उनके साथ एम.फ़िल. या पीएच.डी के लिए काम करने पर आमादा हो जाते, वो बाद में सख़्त अज़ाब में पड़ते. उनके अक्सर महबूब शागिर्दों ने उनके ख़िलाफ़ आख़िर में बग़ावत की. रिटायरमेंट से ज़रा पहले एक तालिबे-इल्म ने उन्हें मर्कज़ में सरे आम जूतों से मारा. उनके मुख़ालिफ़ों की ता'दाद इतनी ज़्यादा थी कि शोबे के उस्ताद, तलबा और क्लर्क सब खड़े उनके पिटने का तमाशा देखते रहे. बाद में भी उस तालिबे-इल्म के ख़िलाफ़ कोई कार्रवाई नहीं हुई. एक बार शो'बे की मीटिंग में अशफ़ाक़ अहमद ख़ां ने भी उनकी पिटाई की थी. उस मीटिंग में उर्दू और हिन्दी के तमाम उस्ताद मौजूद थे. अशफ़ाक़ अहमद ख़ां के ख़िलाफ़ भी कोई क़ानूनी कार्रवाई नहीं हो सकी थी, यूनिवर्सिटी ने मुआमले की तहक़ीक़ात करने के लिए जो इन्क्वायरी कमेटी बनायी, उसे कोई चश्मदीद गवाह ही न मिला.उर्दू शोबों और उर्दू के उस्तादों के अख़्लाक़ी ज़वाल पर सोशियोलॉजी और मनोविज्ञान में कोई संजीदा इल्मी काम होना चाहिए.

नसीर अहमद ख़ां की नापसन्दीदगी के सबब इब्तिदा ही से मेरा उनसे रिश्ता दूर का हो गया था जो मेरे लिए हमेशा आफ़ियत (कुशलता) का सबब रहा,

नसीरअहमद ख़ां की कोशिशों के नतीजे में कभी एक्सपर्ट के न आने की वजह से असलम परवेज़ साहब की प्रोफ़ेसरशिप का इंटरव्यू मुल्तवी हो जाता, तो कभी कोई और क़ाबिले. क़बूल वजह (यकीनन दफ़्तर के ज़ाब्तों के मुताबिक़) इंटरव्यू के इल्तवा का सबब बनती, आख़िरकार जब इंटरव्यू हुआ, तो असलम साहब के साथ-साथ नसीरअहमदख़ां भी प्रोफ़ेसरी के उम्मीदवार हो चुके थे....और आयंदा इंटरव्यू में जब असलम परवेज़ साहब रिटायर हो चुके थे, नसीरअहमद ख़ां प्रोफ़ेसरशिप के ओहदे पर मुक़र्रर हुए और यूं ये ट्रेजडी अपने क्लाइमेक्स को पहुंच गयी.

मर्क़ज में एक और उस्ताद अशफ़ाक़ मुहम्मद ख़ां अपनी मासूमियत के सबब उम्र भर सताए जाते रहे. रिटायरमेंट से दो चार बरस पहले ही परमानेंट किये गये. कहने की ज़रूरत नहीं कि ऐसा भी उन पर तरस खा कर ही किया गया. अशफ़ाक़ मुहम्मद ख़ां क़ायमगंज के पठान हैं. दुनियादारी से क़तई नावाक़िफ़ मगर एक दफ़ा जिसके दोस्त या दुश्मन बन जाएं, उससे उम्र भर के ताल्लुक़ का फ़ैसला अपने तौर पर कर लेते हैं और फिर जब धोखा खाते हैं, तो पठानों जैसे ही रद्दे-अमल का इज़हार करते हैं. अलीगढ़ में इब्तिदा ही में वो कम्युनिस्ट बन गए और फिर उम्र भर इस रिश्ते को अक़ीदे की तरह निभाते रहे. अलीगढ़ में डॉ. ज़ाकिर हुसैन (ख़ां) क़ायमगंज की निस्बत से उनके मुर्बी (सरपरस्त) रहे और उनके कहने पर अशफ़ाक़ मुहम्मद ख़ां पाकिस्तान से वापस हिंदुस्तान आए और अर्से तक अलीगढ़ में रहे. (क़ायमगंज के लोग ज़ाकिर साहब के नाम के साथ ख़ां ज़रूर लगाते हैं) उनके दूसरे मख़्दूम प्रो. अब्दुल अलीम थे, मगर अलीम साहब के मश्वरे के बरअक्स अशफ़ाक़ साहब ने उर्दू में पीएच.डी. करने का फ़ैसला किया और अलीगढ़ की रिवायत के मुताबिक़ वो प्रो. ख़ुर्शीदुलइस्लाम के ख़ेमे में शामिल हो गए. बदक़िस्मती से उनके पीएच.डी. की थीसिस की तकमील तक प्रोफ़ेसर आले अहमद सुरूर शोबे के सद्र हो चुके थे जो मुख़ालिफ़ ख़ेमे के सालार थे और ख़ुर्शीदुलइस्लाम का नाम तक सुनने के रवादार न थे. उन्होंने अशफ़ाक़ मुहम्मद ख़ां की थीसिस कलीमुद्दीन अहमद को इस तवक़्क़ो' (अपेक्षा) के साथ भेज दी कि कलीमुद्दीन अहमद के इंतिहापसन्दाना रवैये के सबब अशफ़ाक़ अहमद ख़ां को कभी पीएच.डी की डिग्री न मिल सकेगी. कलीमुद्दीन अहमद इस साज़िश को भांप गए थे, इसीलिए उन्होंने थीसिस के कुछ बिन्दुओं पर नज़रे सानी का मश्वरा देते हुए और अपनी तरफ़ से पीएच.डी. की डिग्री देने की सिफ़ारिश करते हुए थीसिस वापस तो कर दी, मगर अपनी आदत के मुताबिक़ अपने कवरिंग नोट में शोबे के सद्र को जाहिल क़रार देने का कोई जवाज़ भी उन्होंने ढूंढ़ ही निकाला. नज़रे-सानी के बाद थीसिस एहतिशाम हुसेन को भेजी गयी जो दूसरे एक्ज़ामिनर थे और यूं ख़ुदा-ख़ुदा करके अशफ़ाक़ मुहम्मद ख़ां डॉक्टर तो हो गए, मगर अलीगढ़ के उर्दू शो'बे के दरवाज़े उन पर हमेशा के लिए बंद हुए. फिर दुनिया जहान की ख़ाक

शेष

छानने के बाद अशफ़ाक़ मुहम्मद ख़ां प्रोफ़ेसर मुहम्मद हसन के माध्यम से जवाहरलाल नेहरू यूनिवर्सिटी में टेम्परेरी नौकरी पर आए...

...उस ज़माने में रिटायरमेंट के बाद जेएनयू में मुलाज़मत में पांच बरस की बढ़ोतरी बाआसानी मिल जाती थी, मगर इंतिज़ामी इख़्तियारात ख़त्म हो जाते थे. यानी रिटायरमेंट के बाद मुहम्मद हसन साहब मर्कज़ के सद्र न हो सकते थे. अपनी पांच बरस की इस बढ़ोतरी की मुद्दत में वो शायद ही कभी सेंटर में आए हों. हालांकि अपने रिटायरमेंट के बाद उन्होंने प्रोफ़ेसर एमरिटस बनने के लिए ऐड़ी-चोटी का ज़ोर लगा दिया. मुझ कमसमझ की समझ में यूनिवर्सिटी के उर्दू उस्तादों का रवैया तो कभी आया ही नहीं, ये भी मेरी समझ में कभी नहीं आया कि पूरी तनख़्वाह लेकर भी जब पढ़ाने में मुहम्मद हसन की कोई दिलचस्पी न थी, फिर 'प्रोफ़ेसर एमरिटस' कहलाने का इतना हौका क्यों था? जिस आदमी की पढ़ाने में कोई दिलचस्पी न हो, उसके नाम में प्रोफ़ेसर के साथ अगर Retired के बजाय Emeritus तमग़ा लग जाए तो भी क्या फ़र्क़ पड़ेगा? वैसे अंग्रेज़ी में Emeritus का मतलब भी तक़रीबन वही है जो रिटायर्ड का है. मेरे ज़ेहन में उस्ताद का तसव्वुर मिसाली शख़्सियत का है और प्राइमरी स्कूल की ता'लीम से लेकर इंटरमीडियेट तक मुख़्तलिफ़ मक़ामों पर मैंने जहां भी ता'लीम हासिल की, हर सतह पर मेरा वास्ता किसी न किसी मिसाली उस्ताद से ज़रूर पड़ा. अपने तज्रिबे की हद तक यूनिवर्सिटी के उर्दू उस्तादों के बारे में यही कह सकता हूँ कि उनसे कहीं ज़्यादा बा उसूल तो फ़िल्मों और नॉवेलों के निगेटिव किरदार होते हैं.

जेएनयू में हिंदुस्तान ज़बानों के मर्कज़ में उर्दू के उस्तादों का अहवाल मैंने इसलिए ज़रा तफ़सील से बयान किया ताकि ये अंदाज़ा करने में आसानी हो कि इस अज़ीमुश्शान दानिशगाह (यूनि.) में उर्दू और उसके दानिशवरों की हालत वास्तव में क्या थी, जबकि इस मर्कज़ को बनाने के वक़्त तरक़्क़ीपसंदों को खुली छूट थी कि वो अपने हमनज़रीया उस्तादों को अपाइंट करें, मगर तरक़्क़ीपसंदों, बल्कि यूं कहिए कि उर्दू से वाबस्ता नामनिहाद कम्युनिस्टों ने इस यूनिवर्सिटी में उर्दू और उर्दू वालों का भविष्य शुरू ही में ख़त्म कर दिया और इस तरह यहां के उर्दू शोबे ने अपनी इब्तिदा ही ज़वाल के साथ की.

जेएनयू में हिंदी और उर्दू के शोबे यूं तो एक ही मर्कज़ Centre for Indian Languages का हिस्सा हैं, मगर अमलन दोनों की दुनियाएं अलग-अलग थीं और आज भी हैं. उर्दू हिंदी वाले एक दूसरे के मुआमलों में आम तौर पर मुदाख़लत नहीं करते हैं. हिंदी वाले उर्दू की ज़बानी ख़िदमत ख़ूब करते और हिंदी की हिमायत में मर्कज़ के उर्दू उस्ताद आरएसएस से भी ज़्यादा हौसला दिखाते हैं. उर्दू तलबा के लिए एम.ए. में हिंदी का लाज़िमी पर्चा शामिले-निसाब है और हिंदी तलबा के लिए उर्दू

(रस्मे-ख़त) का मुतालआ भी काग़ज़ों पर ज़रूरी. हिंदी उस्ताद तरक़्क़ीपसंद होने की वजह से हिंदी ज़बान की तारीख़नवीसी के भक्कालों से ख़ूब वाक़िफ़ हैं, मगर हिंदी इलाक़े से आने वाले तलबा को कभी सही तारीख़ नहीं पढ़ाते. यूं अमली तौर से बनारस हिंदू यूनिवर्सिटी और जेएनयू से हिंदी में एम.ए. करने वाले अक्सर तलबा में हिंदी ज़बान की तारीख़ के सिलसिले में उमूमन कोई नज़रीयाती विरोधाभास नहीं होता और दोनों ही उर्दू को हिंदी की एक शैली मानते हैं. उर्दू रस्मे-ख़त की तब्दीली पर हिंदी के उस्तादों का ज़ोर तो नहीं, मगर है ये उनके लिये 'फ़ालतू चीज़' इसलिए हिंदी के तलबा जेएनयू में कभी उर्दू का लाज़िमी पर्चा संजीदगी से नहीं पढ़ते. हिंदी तलबा और टीचर्स के दरमियान इस बात पर भी ख़ामोश इत्तिफ़ाक़ है कि उर्दू के लाज़िमी पर्चे के इम्तिहान में अगर कोई तालिबे-इल्म देवनागरी में भी जवाब लिखे, तो उसे टोका न जाए. यूं हिंदी के छात्रों की अक्सरीयत (उमूमन सौ फ़ीसद की हद तक) देवनागरी ही का इंतिख़ाब करती है. अपने रिटायरमेंट तक हिंदी तलबा की क्लास को उमूमन असलम साहब पढ़ाते थे, चाहे टाइम टेबल में किसी का भी नाम लिखा हो. विवाद के डर से उर्दू ज़बान के विकास की तारीख़ पढ़ाने के बजाय असलम परवेज़ साहब शे'र सुनाते, उर्दू शाइरी की बातें करते और तलबा देवनागरी लिपि में असलम साहब के सुनाये हुए अच्छे-अच्छे शे'र लिख कर उर्दू शाइरी की 'महबूबीयत' और असलम साहब की टीचिंग की तारीफ़ करते.

हिंदी विभाग के अंदर का हाल तो नहीं मा'लूम, मगर हिंदी के नामवर शाइर केदारनाथसिंह मशहूर आलोचक नामवरसिंह हिंदी विभाग से जुड़े थे. उर्दू वाले नामवरसिंह को सर आंखों पर बैठाते कि उर्दू की ज़बानी क़सीदाख़्वानी अपनी तरक़्क़ीपसंदी के सुबूत के तौर पर नामवरसिंह के लिए ज़रूरी थी, मगर जब उर्दू को यू.पी. में दूसरी सरकारी ज़बान का दरजा दिये जाने का सवाल ज़ोर पकड़ने लगा, तो उर्दू के ख़िलाफ़ हिंदी में सबसे ज़हरीला मज़्मून नामवरसिंह ही ने लिखा जो 'बासी भात में ख़ुदा का साझा' के उन्वान से हिंदी माहनामे 'हंस' के अप्रैल 87 के शुमारे में शाए' हुआ.

'हंस' के प्रकाशन की शुरूआत प्रेमचंद ने की थी और जैसा कि अदब के शौक़ीन जानते हैं कि प्रेमचंद की अदबी ज़िंदगी उर्दू से शुरू हुई थी. उनके नक़्क़ादों के मुताबिक़ उम्र के आख़िरी हिस्से में प्रेमचंद ने उर्दू को तर्क करके सिर्फ़ हिंदी में लिखा. हिंदी तारीख़नवीसी की सामग्री जुटाने के इस फ़ैसलाकुन दौर में प्रेमचंद का हिंदी की तरफ़ पलायन कर जाना उर्दू हिंदी की अदबी तारीख़ का अहम मोड़ है. 'हंस' में नामवरसिंह के मज़्मून का छपना इत्तिफ़ाक़ी था या इरादतन, कहना मुश्किल है, मगर इस हक़ीक़त को तस्लीम किया जाना चाहिए कि तारीख़ का सफ़र इन्सानी ख़्वाहिशों चाहे वो क़ौमों की सामूहिक ख़्वाहिशों ही में क्यों न तब्दील हो जाएं, का एहतिराम

नहीं करता.

पीएच.डी. की थीसिस ख़त्म करते-करते एक ख़ातून दोस्त के माध्यम से मुझे हिंदी वालों की ज़ेहनीयत का क़रीब से जानने का मौक़ा मिला. ये दोस्त हिंदी अदब में पीएच.डी. कर रही थीं और बाएं बाज़ू की तलबा सियासत से वाबस्ता थीं (शायद इसीलिए आजकल पश्चिमी बंगाल में हिंदी की टीचर हैं और नस्लन बंगाली हिंदुओं के ख़िलाफ़ उत्तर भारत के हिंदुओं, जिन्हें मक़ामी मुहावरे में 'मारवाड़ी' कहा जाता है, के सियासी मोर्चे के हिरावल दस्ते में वो और उनके पति दोनों सरे-फ़ेहरिस्त हैं और हिंदी के नाम पर हिंदू सियासत करते हैं. आख़िर सियासत में तो सब तरह के लोगों की काश्त होती ही है ना !) इस तकलीफ़देह आकलन का रद्दे-अमल इतना शदीद था कि कई महीने तक मेरी फ़िक्र हिंदी मुख़ालिफ़ भाषायी कट्टरता के सेंटर का चक्कर लगाती रही, मगर चूंकि मुझे अंदाज़ा था कि ग़लती कहां हुई है, इसलिए मैं जल्द ही इस अज़ाब से बाहर आ गया. आज भी जब कोई दोस्त मुझ से हिंदी/उर्दू के सवाल पर शिद्दतपसंदी की शिकायत करता है, तो मैं विरोध नहीं करता, क्योंकि जानता हूँ कि अवचेतन तौर पर हिंदी वालों के कट्टर रवैये का मुझ पर ख़ासा शदीद रद्दे-अमल हुआ था, जिसके असरात शायद अभी तक बाक़ी हैं.

मोटे तौर पर आज भी जेएनयू में तलबा के दो तबक़े हैं: एक ग़ैर अंग्रेज़ीदां और दूसरा अंग्रेज़ीदां. ग़ैर अंग्रेज़ीदां तबक़े में उर्दू, हिंदी, अरबी और फ़ारसी वाले शामिल हैं जो जेएनयू में 'दूसरे दरजे के शहरी' हैं. उन्हें अंग्रेज़ीदां तबक़े के लोग HUPA (हिंदी, उर्दू, पर्शियन, अरेबिक का छोटा रूप) कहते हैं. मौजूदा सूरतेहाल ये है कि उर्दू, अरबी और फ़ारसी के कोर्सों में एनरोल्ड (Enrolled) मुसलमानों की अपनी अलग दुनिया होती है जिसका इल्म व अमल की सतह पर बाक़ी यूनिवर्सिटी से आम तौर पर कोई ता'ल्लुक नहीं होता. ग़ैरअंग्रेज़ीदां मुस्लिम तलबा उमूमन एक ही आर्थिक वर्ग यानी निचले-दरमियानी तबक़े से आते हैं. उर्दू के तलबा में बहुतात बिहार के दीनी मदरसों से निकले हुओं की होती है. जेएनयू की तलबा सियासत में मुस्लिम तलबा हिमायत तो तरक़्क़ीपसंद सियासत की करते हैं, मगर ये हिमायत सिर्फ़ और सिर्फ़ मजबूरी की वजह से है, क्योंकि ग़ैर तरक़्क़ीपसंद सियासत की हिमायत का सीधा फ़ायदा आरएसएस की सियासत करने वाली तन्ज़ीमों को होता है.... HUPA के मुस्लिम तलबा से गुफ़्तगू करने के बाद आज भी फ़ौरन अंदाज़ा हो जाता है कि जेएनयू ने उनका कुछ नहीं बिगाड़ा... (जारी) ❑

(तिमाही अदबसाज़) एडिटरः नुस्रत ज़हीर, टी-37, हुडको प्लेस, एंड्रिवगंज, दिल्ली-49, जनवरी-ता-जून 08)

80 सुखदेव विहार, नई दिल्ली - 25, फोन : 011-26331010

अल आसिफ़ा (तूफ़ानी हवा)

डॉ. हसन मंज़र

शेष-51 से आगे :

(20)

मैं काफ़ में रहने के लिए बग़ैर मुनीरा या किसी और लड़की के जाने को तैयार नहीं था. शर्मिन्दगी होगी, वाक़िफ़ हंसेंगेः जो कमाया था, लुटा कर आ गए. सिर्फ़ इसलिए घर गए थे? काम करने? आदमी जहां काम करता है, बस वहीं रक़्म के ख़र्च को अपने बस में रख सकता है और वहीं उसे आराम मिलता है. घर जा कर उसकी कमाई दूसरों के बस में होती है. किस के लिए क्या बनवाना है, किस-किस का इलाज करवाना है, किस-किस को कहां-कहां की सैर करवानी है और घर वालों का कितना क़र्ज़ा उतारना है. बचाये हुए पैसे तेज़ी से उड़ते देखता है और बेबस होता है कि उनका हाथ से निकलना रोक सके...कमर सीधी करने का वक़्त नहीं मिलता है कि छुट्टियां बीत जाती हैं.



ये बातें वहां शाम की महफ़िलों में उभरती थीं, जब हम नार्जिला के कश लगाते थे और तेज़ मीठा, खौलता हुआ क़हवा हलक़ से उतारते थे.

वारेन की मुलाज़मत मैं छोड़ चुका था और अब्दाइक...जॉन अब्दाइक की मुलाज़मत में शुरू का दौर वो था, जब मैं तरक़्क़ी का आरज़ूमंद था और एक-एक पैसे को बचा कर रख रहा था ताकि एक दिन उस मुल्क से निकल कर किसी और विलायत में जा बसूं.

एक शाम सूरत डूबने के बा'द जब नमाज़ के लिए पुकारने वाला शख़्स चक्कर

लगा कर जा चुका था, नमाज़ का वक़्त गुज़र चुका था और दुकानों के शटर्स उठाये जा चुके थे, मैं बहुत पसोपेश (आगा-पीछा सोचने) के बाद मुहम्मद बादोग़ेश के पास क़र्ज़ा लेने गया ताकि उस क़र्ज़े से शक़्क़ः (फ़्लैट) किराये पर ले कर मां-बाप से अलग रहूँ.

ये काम उसके घर जा कर फ़ातिमा के सामने मैं नहीं कर सकता था.

मेरी शर्म को देखते हुए उसने कहा, 'बस इतनी-सी बात को कहते हुए शर्मा रहे थे!'

मैंने कहा, 'जल्दी दे दूंगा.'

उसने कहा, 'कुल्ला वाहिद!'

मैं एक फ़ीक़ी हंसी हंसा जिसे वो समझ सका भी या नहीं, मुझे नहीं मालूम. उसने सेफ़ में हाथ डाला, जितने नोट उंगलियों में आ गये, निकाल कर मेरे हवाले किये और मेरे कहने पर भी गिनने पर रज़ामंद नहीं हुआ.

मैंने कहा, 'अगर नहीं लौटा सका या पूरे नहीं दिये तो?'

बोला, 'कुल्ला वाहिद!'

अब मैं शर्मिन्दगी की हंसी हंसा, लेकिन तब तक वो अपने काम में लग चुका था.

मैं आरज़ी (अस्थायी) तौर ही से सही, नयी ज़िंदगी शुरू कर रहा था और एक ही शहर में रहते हुए भी मुझे उम्मीद थी, बाप मेरे सबसे अलग-थलग रहने का बुरा नहीं मानेगा और ख़तरा था, वहां कभी आएगा ज़रूर.

अब्दाइक से मैंने कह दिया था, तनख़्वाह चंद हफ़्तों बा'द लूंगा या'नी जब ज़रूरत होगी. दरअस्ल मुझे डर था, अगर हफ़्ते के हफ़्ते उसे घर ले गया तो, हो सकता है; बाप जेब से निकाल ले या उसके इशारे से मां.

अब्दाइक का दफ़्तर मीना से नज़दीक था. शराब लाने की हामी मैंने नहीं भरी, हालांकि उसने याद दिलाया कि ये काम मैं वारेन के लिए करता रहा था.

मैंने कहा, 'वो पुरानी बात है जब बच्चा था.'

'अब बड़े हो कर करोगे और भी एहतियात से.'

मैंने कहा, 'तब कमउम्री की बिना पर शायद किसी को मुझ पर शुब्ह ही न होता. अब सर काट दिया जाएगा.'

वो होशियार आदमी था. चुप हो गया.

उसके दफ़्तर में कभी-कभी वारेन भी नज़र आता था,लेकिन ज़ाहिर वो यही करता था कि उसने मुझे नहीं देखा. दूसरी बार उसकी नौकरी को ठोकर मार कर मेरे चले आने का ज़ख़्म अभी तक उसके दिमाग़ पर ताज़ा था.

मुझे उम्मीद थी, बादोग़ेश का क़र्ज़ा जल्द चुका दूंगा. गो उसे जल्दी नहीं थी,

फिर भी अंदर से मैं शर्मिन्दा था कि अपनी ग़रीबी और उसकी अमीरी की बिना पर ये फ़ायदा ज़िंदगी में, पहली बार ही सही, मैंने उठाया तो था. मुहम्मद बादोग़ेश की, जब मैं लड़का था और वो जवान, मैंने एक बार जान बचायी थी और उस वक़्त का क़र्ज़ा तब से वो चुकाता आया था. एक बार नहीं, हजार बार.

मैं ईरानी की बेकरी पर तनहा था, जब मुझे किसी के भागने और उसका पीछा करने वालों के क़दम सुनायी दिये और एक बार गोली चलने की आवाज़ आयी. मैं दरवाज़े तक आया और उसने वहां रुकते हुए मुझ से इशारे से अंदर आने की इजाज़त मांगी. मैं 'आ जाओ' कह कर एक तरफ़ को हो गया और इशारे ही से उसे अलमारी के पीछे छुपने की जगह दिखायी. पीछा करने वाले वर्दी में थे. उन्होंने मुझे दरवाज़े के बीच में खड़े तौलिये से हाथ पोंछते देखा. उनमें से एक ने ऊंची रौबीली आवाज़ में पूछा, जो लंबा जवान भागता हुआ इधर आया था, किधर गया? मैंने कहा, 'वल्लाह मा अदरी.' फिर वो बग़ैर कुछ और कहे आगे चले गये.

अंदर आ कर मैंने मुहम्मद बादोग़ेश से पूछा था, 'क्या उन्होंने तुम्हारी शक्ल देखी है?' और उसने कहा था, 'ला (नहीं)' मुहम्मद के चेहरे में कोई ऐसी चीज़ थी जिसने मुझे उसका अंदर तक दिखा दिया. मासूमियत? क़ाबिले-रहम? सीधा-शरीफ़? सब कुछ.

ये ख़याल पीछा नहीं छोड़ रहा था कि बिलआख़िर मैंने उस पुराने एहसान के बदले में उसके सामने हाथ फैलाया था. वो अपने दिल में क्या कहता होगा और जब फ़ातिमा सुनेगी तो क्या कहेगी! अब तक वो मुझे एक ग़ैरतमंद मुफ़लिस इन्सान समझती आयी थी. आज के बाद मैं उसकी नज़रों में गिर जाऊंगा.

मेरे इस तरह सोचने का कोई जवाज़ (औचित्य) नहीं था: उन दोनों ने तो कई बार यहां तक कहा था, खाना उनके यहां खाया करूं, जब तक मुनीरा घर न संभाल ले. ये फ़ातिमा बिन्त (पुत्री) अब्दुल्लाह का कहना था, जो समझती थी फ़्लैट मैंने मुनीरा को ब्याह कर लाने के लिए लिया है.

उन दिनों मैं हिंदी खाना खाता था जिसमें मिर्चें होती हैं, लेकिन होता सस्ता था. जल्द मुझे मिर्चों की आदत पड़ गयी. कभी जब अरब खाने को जी मचलता था, तो खुब्ज़े-अरबी और लबन (दही) कमरे में ला कर उसे बहला लेता था. दो-तीन दफ़ा तहीना (तिल के तेल से बनाया हुआ पेस्ट) बनाया, लेकिन वो ठीक से बन नहीं सका. कभी एक चीज़ ज़्यादा पड़ गयी, कभी दूसरी और खाना मुझे ही पड़ा. कभी फ़ोल (एक तरह के बड़े बीज) बना लेता था. ऐसा था वो तंगीतुर्शी का दौर.

एक दिन धक्के (pier) पर गया और दोबारा काफ़ का ख़याल आया. जब तरीक़ा मुझे आता था, तो ग़रीबी की ज़िंदगी क्यों बसर करूं!

अगले दिन मैंने अब्दाइक से कहा, 'आप मुझे काफ़ भेजना चाहते थे? जा सकता हूं?'

जब पहली दफ़ा काफ़ में अब्दाइक के लिए जा रहा था, तो देखने में आ रहा था कि खाड़ी ताहद्दे-निगाह धुंध में छिपी है. समंदर बेहद गुस्से में था और मैं डर रहा था, बाख़रा (छोटा जहाज़) को मअ मुसाफ़िरों के निगल न ले. जब हम एक लहर की पहाड़ी पर चढ़ जाते थे, तो मुझे दूर कोई सफ़ीना (कश्ती) नज़र आता था और लहर पर नीचे उतरते में सामने से आने वाली पहाड़ जैसी लहर निगाह के सामने दीवार बन जाती थी. लगता था, अब हम दो लहरों के बीच में कुचले जाएंगे. कभी दूर की कश्ती का नक़ाब ज़रा-सी देर के लिए उठता था और हम फिर तनहा रह जाते थे.

मेरे कपड़े पसीने से तर थे. अगर ज़बान होंठों पर फेरता था तो मुंह में नमक घुल जाता था. कभी कश्ती ऊपर नीचे जाना भूल कर एक पहलू से दूसरे पहलू में लोटने लगती थी और मेरा दिल उसकी इस हरकत से मथने लगता था और कभी इतना ही काफ़ी नहीं होता था कि उसके साथ ही समंदर कश्ती को बयकवक़्त तूल और अर्ज़ (चौड़ाई) में उठाने, पटख़ने लगता था. फिर वो काम समंदर ने वक़्फ़े-वक़्फ़े (अंतराल) से दिखाया. जब एक लहर पर चढ़ कर कश्ती की नोक (prow) अभी हवा ही में उठी होती थी और कश्ती को नीचे उतरने का मौक़ा नहीं मिला होता था कि सामने से आने वाली एक और लहर की ठोकर एक धमाके से उसके पेट में लगती थी और बाख़रा को माचिस की डिबिया की तरह उछाल देती थी. लगता था, ज़मीन हमारे नीचे फटी है. उस वक़्त मेरी हालत उस लट्टू से मुख़्तलिफ़ नहीं होती थी, जो गर्दिश के ख़ात्मे के नज़दीक एक तरफ़ को, गिरने को होता है. उससे बढ़ कर समंदर और क्या सफ़्फ़ाकी (निर्दयता) दिखा सकता था! मल्लाह सही कहते हैं, इधर का दर्या सख़्त बिगड़ा दिल है. कश्ती का ऐड़ी से चोटी और पहलू से पहलू हरकत करना और उस अमल में छुपी घुमेरी मुझे ऊंट का बैठने से उठना याद दिला रहे थे जिस पर शायद मैं बचपन के बाद कभी नहीं बैठा था.

आठ महीने बाद मैं समंदर पर आया था, लेकिन इतना भड़का हुआ मैंने उसे कभी नहीं देखा था. पहले सख़्त गर्मी थी, लेकिन जब लहरों ने उठ-उठ कर हम पर हमले शुरू कर दिये, तो लोग गर्मी को भूल गये और ओकने लगे. मुझे भी उल्टी आयी जो मैंने गर्दन लंबी करके पानी पर ही करनी चाही, लेकिन लम्हे भर में वो पानी जो बहुत नीचे नज़र आ रहा था; न जाने कहां गया और उसकी जगह एक तवील चट्टान जैसी लहर ने ले ली, जो कश्ती के पहलू से आ कर हम से टकरायी और उल्टी मेरे मुंह पर पड़ी. मुसाफ़िर हंसने लगे.

कश्ती में काम करने वाले दो लड़के पकाने के तेल के बड़े-बड़े ख़ाली टीनों से

कश्ती की तली से पानी भर-भर कर बाहर फेंक रहे थे.

बारे काफ़ की रौशनियां नज़र आयीं और सब को इत्मीनान हुआ, अब सुकून का सांस लेंगे और कुछ खा-पी सकेंगे.

सारे रास्ते मैं ख़ुद को यक़ीन दिलाता आया था. इसके बाद दोबारा बहरी (समंदरी) सफ़र नहीं करूंगा, लेकिन ज्योंही पैर धक्के के दोस्त सख़्त फ़र्श पर टिके, वो बुज़दिली हवा हो गयी और उसकी जगह नई हिम्मत ने ले ली कि ऐसे सफ़र मैं हज़ार बार कर सकता हूं. अगर रिज़्क़ इसी में है, तो यूं ही सही.

अब मैं ख़र्च की तंगी की वजह से वो काम करने लगा था. एक तरह से मैंने ख़ुद को चंद बार और गुनाह करने की इजाज़त दे रखी थी. काफ़ जाता था, लेकिन वहां पुराने दोस्तों से नहीं मिलता था.

वारेन ने जल्द ही भांप लिया कि वक़्त गुज़रने के साथ मेरी नौकरी किस तरह की हो गयी थी. एक दिन उसने, जब आसपास कोई नहीं था, चश्मा हटाते हुए कहा, 'अपने असली काम पर आ गये–O you characterless Arabs !'

मैंने कहा, 'और तुम उन्हें ऐसा बनाने वाले ! You characterless Americans ! तुम लोग अरब तेल पर पल रहे हो और तुम्हारे दिलों में न अरब ज़मीन की इज़्ज़त है जिससे वो तेल निकलता है, न उसके इन्सानों की. मेरा ख़याल है, तुम्हारे दिलों में अपनी मां की इज़्ज़त भी नहीं होगी.'

वो घबरा कर बाहर निकल गया.

ये नये अल्फ़ाज़ मेरी गुफ़्तगू के उस ज़माने में हिस्सा बने थे, जब मैं काफ़ में था जैसे bourgcoisie & proletariat और इस्तेहसाल (शोषण) जिन्हें मैं अपने मुल्क में कम ही ज़बान पर लाता था.

उन दिनों मैं ख़ुद को सुधारने की कोशिश कर रहा था. फ़्लैट में सामान बराए नाम था. सिगरेट छोड़ चुका था, बस एक फ़ज़ूल ख़र्ची की इजाज़त ख़ुद को दे रखी थी: सुब्ह नाश्ते में रोज़ की ख़ाली चाय के साथ किसी, किसी दिन ऑमलेट बना कर खा लेता था और उसमें अजीब लुत्फ़ आता था. बचत के साथ मुंह का ज़ायक़ा बदलने का.

बस, एक अफ़सोस मुझे था...मुनीरा ने मेरे फ़्लैट में उठ आने की ख़बर तो ज़रूर मां से सुनी होगी, लेकिन एक दिन भी मुझे मेरे इस नये हाल में देखने नहीं आयी और इस ख़याल को मैं रोक देता था कि अगर आ जाती, तो उसके दिल में मेरे लिए हमदर्दी उमड़ पड़ती.

उन दिनों एक और तब्दीली मुझ में आयी थी: जुमे के दिन ज़ुहर की नमाज़ के लिए मस्जिद जाने लगा था. किसी, किसी वक़्त घर में भी. दोनों ही पूरी पाबंदी से नहीं.

इब्ने बादोग़ेश ने तो नहीं, कई दफ़ा मुझे फ़ातिमा ने समझाया, मैं ख़तरा मोल न लूं.

'कैसा ख़तरा?' मैं अनजान बन कर कहता था.

वो कहती, 'यहां अकेले रह कर एक दिन पागल हो जाओगे. हमारे घर उठ आओ.'

'जिस दिन हो जाऊं, उठा कर ले जाना.'

वो दोनों जानते थे, मैं फिर बाहर जाने को पर तौल रहा हूं, हमेशा के लिए.

यूनिवर्सिटी के टीचर्स और उनके साथियों पर मुक़द्दमे के बाद से हुकूमत ज़्यादा सख़्त हो गयी थी. उनका अंजाम क्या हुआ था, ये बस हमारी हुकूमत जानती थी या अमेरिका की. हो सकता है, तुर्कों के ज़माने के ज़ेरे-ज़मीन क़ैदख़ाने में डाल दिये गए हों, जिनमें आदमी उतारा जाता है और वापस नहीं लाया जाता.

मुहम्मद और फ़ातिमा मेरे मुर्रबी (पालक) थे. मुहम्मद एक मामूली से वाक़िए को मेरा एहसान समझता था और लगता था, उसका इरादा ताउम्र एहसानमंद रहने का है. उससे लिया हुआ क़र्ज़ा उतारने की मुझे जल्दी नहीं थी. उसने एक गंवार को ज़िंदगी का साथी बनाया था. क्यों–? इस सवाल का क़तई जवाब मेरे पास नहीं है. उसकी माँ सफ़ेद फ्रांसीसी थी. बाप हज़री (शहरी) सफ़ेद. बाप का ज़िक्र कभी भूले से उसकी ज़बान पर आ जाता है, मां का कभी नहीं. इससे आगे जानने की कोशिश मैंने कभी नहीं की. वैसे उस शहर में उसकी ज़िंदगी दुकान खोलने के वक़्त से शुरू होती है. आज भी वही है.

एक दफ़ा वापसी पर मैं बोतलें पहुंचाने अब्दाइक के घर गया. पश्चिमी म्यूज़िक चल रहा था. लोग बेख़बर होकर नाच रहे थे. उनमें से किसी के ज़ेहन में पीने के जुर्म में गिरफ़्तार किये जाने का ख़तरा नहीं था. अक्सर वहां से ख़ुद ड्राइव करके अपने ठिकानों को जाते–तब भी नहीं.

दरवाज़ा खुला था, मगर किसी ने मुझे वहां से चले जाने के लिए नहीं कहा. एक सफ़ेद आदमी ने, जो क़द में दूसरों से निस्बतन मुख़्तसर था और जिसके होंठ किसी सफ़ेद लड़की के होंठ की तरह बारीक थे, एक कमउम्र सफ़ेद औरत के जो थक कर बैठ गयी थी, जूते उतारे, उसके पांवों को प्यार किया, टांग की हड्डियों पर ऊपर, नीचे हाथ फेरे जैसे उनकी थकन उतार रहा हो और एक जूते में मानो शराब उंडेली, जो अगर वाक़ई बोतल से उसमें बही थी, तो मेरी लाई हुई थी और जूते को मुंह से लगा कर पीने लगा. वो झूठी शर्म दिखा रही थी, लेकिन इस अनोखी इस्तदुआ पर उसके साथ नाचने पर रज़ामंद हो गयी. मैं उस शख़्स को जानता था, शहर के किसी

अस्पताल में सर्जन था.

एक अधेड़ उम्र का अरब जिसे फ़िलस्तीन में जा कर लड़ना चाहिए था 'या मुस्तफ़ा, या मुस्तफ़ा' गा-गा कर नाच रहा था. उसे अपने तन-बदन का होश नहीं था. उन दिनों ये गाना हर जगह सुनने में आता था.

लेकिन जो मैं कमा रहा था, उसमें अपनी एक छोटी गड़बड़ भी शामिल थी...दर पर्दा...सारी बोतलें अब्दाइक तक नहीं पहुंचती थीं. चंदेक मैं बाज़ार में बेच लेता था. लेकिन बेचे जाने से पहले वो अब्दाइक के दफ़्तर में छुपी रहती थीं. वहां न कभी सिपाही आते थे, न वहां से कभी किसी को पकड़ा गया था. यही नहीं, न मैंने कभी किसी सफ़ेद आदमी का हाथ काटे जाते देखा है, न सर. रहे शराब बनाने वाले अमेरिकी, उन्हें कभी कोड़े भी नहीं पड़ते हैं, हाथ काटे जाने का तो क्या ज़िक्र? बाज़ सफ़ेद औरतें इन मुल्कों में अमेरिकियों और जहान भर के दूसरे सफ़ेद मर्दों के दरमियान गर्दिश में रहने के लिए लायी जाती हैं. लेकिन जिस गुनाह में मुलव्वस (लिप्त) मर्द और औरत को कोड़े पड़ते हैं, वो और उनके वली उससे सदा बचे रहते हैं.

उन दिनों एक छोटी-सी अरब रियासत के जो हमारे पूर्व में है, उसके सुल्तान के बारे में अजीबो-ग़रीब ख़बरें सुनने में आ रही थीं. उस सुल्तान का नाम मैं नहीं बताऊंगा. उसकी एक अपने ही जिन्स वाली हस्ती से मुहब्बत इतनी बढ़ गयी थी कि वो उससे शादी करके उसे सबकी नज़रों में वही मर्तबा देना चाहता था, जो उसकी साहिबा का था...बल्कि साहिबा से कहीं बढ़कर, क्योंकि वो तो उस वक़्त तक शायद 17-18 थीं, लेकिन वो शादी के बाद जो कुछ भी कहलाता, अपनी हैसियत में वाहिद (अकेला) होता. हो सकता है, कभी ऐसा वक़्त आए, सुल्तान के बराबर में एक और छोटा सुल्तान हुआ करे जो मलिक का हमजिन्स (समलिंगी) नज़र आए. दुनिया में सब कुछ मुमकिन है. आख़िर को कभी मलिकाएं भी हाथ में चीते की चेन थामे तख़्ते-सल्तनत पर बैठी नज़र आती थीं! मैंने अमेरिकी फ़िल्मों में देखा है. फिर इस शादी में एक और फ़ायदा भी था. हमारे यहां मलिकाएं पर्दे में रहती हैं, उनका फ़ायदा बीवी होने के इलावा और क्या है! दरबार में नहीं बैठ सकती हैं.

बात सिर्फ़ एक समलिंगी को रुतबा देने की थी, लेकिन तमाम छोटे-बड़े मुल्कों में आग लग गयी. हमारे मलिक ने उसे समझाया, 'निकाह मत पढ़वाओ और चाहे जैसे उसे अपने सर-आंखों पर बिठाओ. स्वीट्ज़रलैंड में इसके लिए विला ख़रीद दो और महंगी कारें दो, एक नहीं दो तीन...जहां चाहे उन्हें दौड़ाता फिरे...इससे दोस्ती रखो, तुम्हारा दिल है, मगर शादी मत करो. शादी के लिए हमारी बेटियां हैं.

फिर बात दब गयी.

फ़्लैट में बाप पाबंदी से रक़्म लेने आता था और मुझे लगता था, एक दिन मैं ख़ुद पर कंटोल खो बैठूंगा या उसे मार बैठूंगा या धक्के दे कर बाहर निकाल दूंगा.

जिस दिन तनख़्वाह मिलती थी, हफ़्ते के हफ़्ते, मां मेरी सेहत का हाल मालूम करने के बहाने आ जाती थी और हमेशा कुछ ऐंठ कर ले जाती थी. एवज़ भी उसके साथ या अकेला वक़्त, बेवक़्त आ जाता था. पैसे मेरे बस देखने ही में आते थे कि उठ जाते थे. मां दोबारा साथ रहने के लिए उकसाती थी, ख़र्चा कम हो जाएगा. रेस्तोरां का खाना वो भी हिंदी खा-खा कर तुम वक़्त से पहले बूढ़े हो जाओगे.

बिल्कुल बदली हुई औरत! है ना?–मैं ख़ुद से सवाल करता था. आम सफ़ेद रंगत वाले कालों के बच्चों को उनके चौड़े नथूनों और सियाह मिर्च जैसे बालों की बिना पर अपने से कमतर समझते हैं. ये औरत अपने बच्चों में फ़र्क़ करती थी. इसके तीन उजले बच्चे थे, बाकी धुंधले और एक–? अब क्या कहूं! अपनी कमाई से सारी उम्र मैंने इसकी मुहब्बत ख़रीदनी चाही थी. क़ीमत अदा करता रहा था, लेकिन माल नहीं मिला था. सरासर घाटे में रहा था.

मैं उस घर में नहीं जाना चाहता था जिसे छोड़ कर एक दिन लो लो चली गयी थी. इस दफ़ा मेरा इरादा भी उसी की तरह लापता हो जाने का था.

और बाप–? उस पर जब भी नज़र पड़ती थी, कितने ही वाक़िआत नज़रों के सामने से गुज़र जाते थे. उसके दूसरों को धोखा देने के, मुझे धोखा देने के. अब अगर उससे कहूं, तुम्हें वो दिन याद है, जब मैं ईरानी की बेकरी से काम ख़त्म हो जाने के बाद बाहर निकला था और तुम उस तंग सड़क पर एक तरफ़ को मेरे मुन्तज़िर खड़े थे. मैं तुम्हें देख कर चौंका था कि पता नहीं आज क्या होने वाला है! तुम ने मुझ से उस दिन की कमाई तलब की थी कि तेरी मां के लिए दवा लेनी है. मेरे पूछने पर कि उसे क्या हुआ? सुब्ह तो अच्छी-ख़ासी छोड़ कर आया था. तुमने गुस्से से कहा था–मर रही है–और मेरे इन्कार पर उस दिन के तीन रियाल तुमने मुझ से छीन लिये थे.

जब मैं घर पहुंचा, वो काम कर रही थी और बाप घर में नहीं था. उसने रक़्म तलब की और मैंने कहा, बाप ने तुम्हारे दवा के लिए ले लिये, नहीं छीन लिये कि तुम मर रही हो.

'मुझे तो कुछ नहीं हुआ है. वो इतना बड़ा झूठ नहीं बोल सकता. तुम पहले भी झूठ बोल चुके हो, आज भी झूठ बोल रहे हो. इब्ने सईद को आने दो, पूछूंगी.'

और जब तुम आए और मां ने पैसे मांगे, तो तुम साफ़ मुकर गये कि मेरी जेब ख़ाली है. मां ने कहा, तुमने ज़ैद से आज की उजरत के तीन रियाल और तुमने कहा:

सरासर झूठ है.

फिर तुम मां के इशारे पर मुझे मारने को दौड़े थे और मैं बाहर भाग गया था और मां कहती रह गयी थी, जब भी घर आओगे, मैं मारूंगी ज़रूर. आज सड़क की ख़ाक चाटकर आना, खाना नहीं होगा. मैं रात गए घर लौटा था और ख़ाली पेट पर माँ ने मुझे अपनी क़सम पूरी करने को मारा था और तुम मेरे हिमायती बन कर कह रहे थे, 'अरे क्या मार डालेगी, बच्चा है, कहीं गिर गए होंगे.'

उस रात मेरे प्यारे बाप तुम्हारे मुंह से पहली बार मुझे ऐसी बू आयी थी, जैसी ज़ख़्म साफ़ करने वाली रूई से आती है जिसे डॉक्टर एक बोतल के मुंह से लगा कर गीली करता है, उस वक़्त कम जब तुम मेरी हिमायत में बोल रहे थे, उस वक़्त ज़्यादा जब तुम घर में दाख़िल हुए थे और मां से कहा था–ये झूठ बोलता है. मेरा ख़याल है, वो बू तुमसे झूठ बुलवा रही थी. मगर मेरा ये सब कहना तुम्हारे दिमाग़ पर जमी हुई शराब की धूल को हटा नहीं सकेगा.

एवज़ मेरे साथ चंद दिन रहने के लिए आया. मां बच्चा जन रही है. कुछ दिन यहां रह कर जाऊंगा, वर्ना रोज़ घड़ी-घड़ी डॉक्टर के पास दौड़ाया जाएगा. हो सकता है आज बीच रात में उसे अस्पताल ले जाना पड़े.

मैं ताज्जुब में था. बात यहां तक बढ़ चुकी है और मेरी नज़र मां के पेट को नहीं टटोल पायी. एवज़ मुझ से मुहब्बत करता था, लेकिन जुआरी बन चुका था. एक दिन मेरी फ़ेवरलुबा घड़ी जुए में हार आया. तब से मैं उस पर नज़र रखता था.

'मैंने मुनीरा को राज़ी कर लिया है.'

मैंने बाप को दिल में गाली दी–काज़िब (झूठा).

मुनीरा दूसरी मुलाक़ात के बाद एक बार और तनहाई में मुझ से मिलने से इन्कार कर चुकी थी. पता नहीं, तुम बाप, बेटे मेरे बारे में क्या साज़िश किया करते हो! मुझे किसी से मुहब्बत नहीं है. हो सकता है, कभी घर बना कर न रहूं. हो सकता है, किसी मालदार से शादी कर लूं; जो ये जान कर मुझ से शादी करे कि मेरा बाप जायदाद या बैंक बैलेंस छोड़ कर नहीं मरा है.

और इस ऐलान के बाद जो अभी तक मेरे उस कान में बज रहा था जिसे रिसीवर से लगा कर मैंने उसकी बात सुनी थी. आज, ये दुनिया के लिए बेवक़ूफ़, मुझ से कह रहा था–मैंने तुम्हारी बात मुनीरा से पक्की कर ली है.

वो उस रात मेरे घर ठहरने के इरादे से आ गया था, बेहयाओं की तरह, हालांकि मैं उससे लड़ कर जुदा हुआ था. वो जब बोलता था तो लगता था गमाल (जमाल) अब्दुल नासिर बोल रहा है–बग़ैर थके घंटों. उस रात तो ऐसा लग रहा था, नए

ख़यालात उसके सीने में बन रहे हैं और उसके मुंह से निकले चले आ रहे हैं.

वो सारी रात बोलता रहा, कभी अरबों की तहज़ीब के बारे में, कभी सियासत के और कभी क़ौमों की तरक़्क़ी के. उसके इन ख़यालात का उसकी अमली ज़िंदगी से कोई वास्ता नहीं था...जैसे तमाम सियासतदानों का. फ़र्क़ इतना था, सियासतदानों की अमली ज़िंदगी उनकी पोशीदा ज़िंदगी को छुपाए रखती है. इब्ने सईद की कोई अमली ज़िंदगी थी ही नहीं, बस वो था और उसकी छुपी हुई ज़िंदगी. छुपी हुई ज़िंदगी कुछ मां से छिपी थी, कुछ बच्चों से और कुछ दुनिया से. जब वो पिये हुए हो, शाइराना बातें उसकी ज़बान की नोक पर होती थीं. पीने को न मिली हो, तो नैतिकता के उसूल और हुक्मरानी के गुर उसके मुंह से थूक की फुहार के साथ निकलते थे. दुनिया के बड़े सियासतदानों की ज़िंदगी में वो सब कमज़ोरियां होती हैं जो मेरे बाप में थीं. मैं उनके दावों का भी एतबार नहीं करता हूं. उस रात वो अरबों के एक हो जाने का आर्ज़ूमंद था. उसे स्पेन से हमारे निकलने की वजह मालूम थी और तुर्कों के अरब मुल्कों से हार की. लेकिन ये सब बातें उसके दिमाग़ की पैदावार नहीं थीं. कहवाख़ाने की मिली हुई थीं जहां वो रोज़ बैठता था, हुक़्क़े के कश लगाता था और जेब में कुछ न हो, शाई (चाय) या गहवा (क़हवा) पी कर उठता था.

उसका मेरे सर के लिए कहना था, एक ऐसा वायरलैस है जो सिर्फ़ मक़ामी ख़बरें सुनने के काम का है और मैं उससे आलमी ख़बरें सुनने की कोशिश कर रहा था. ऐसे में वो जल नहीं जाएगा तो क्या होगा! वो मेरे सर को लोकल बनाना चाहता था.

मैंने पूछा, 'क़हवाख़ाने कब गए थे?'

उसने कहा, 'कल.'

'वहां किस ने लोकल और आलमी ख़बरों के वायरलैस सेट की बात की थी?'

उसने ख़ुशी से मेरे हाथ पर हाथ मारा, 'एक अक़्लमंद बाप का अक़्लमंद बेटा! अब्दुल वहाब मिस्री ने.'

'मेरे लिए?'

'ला (नहीं). गमाल अब्दुल नासिर के लिए.'

हम पूरी रात जागते रहे.

एवज़ और मैंने कई बार उसकी फ़र्माइश पर चाय बनायी, यहां तक कि टी बैग्स ख़त्म हो गए. कॉफ़ी पहले ही ख़त्म हो चुकी थी. उसकी बातों के तूफ़ान में उस दिन मैं उससे अपनी नाराज़ी भी भूल चुका था.

वो मुझे दोबारा घर चल कर रहने के लिए कह रहा था, 'क्या होटल की-सी ज़िंदगी है! ख़र्चा है मगर ज़िंदगी का लुत्फ़ नहीं. तुम्हारी सेहत ख़राब होती जा रही है.'

मुनीरा को वो भी ख़ो बैठा था. मुझ से आंखों में आंसू भर कर बोला, 'वो तुम्हारे हाथ से भी निकल गयी और मेरे हाथ से भी. वो थी तो मेरा ख़र्चा चलता था.'

मैंने कहा, 'शराब का?'

मेरी बात उसके कानों से टकरा कर लौट आयी. बोला, अब जब मैं किसी से कहता हूं उससे मैं तुम्हारी शादी कराऊंगा, तो वो मुझे गालियां देता है'

एवज़ उस वक़्त ऊंघ रहा था.

मैंने कहा, 'मेरा बाप तो अभी तक बच्चा है. जा, सो रह और मुझे भी सोने दे.'

बाद के दिनों में बाप का मेरी किसी दूसरी लड़की से शादी कराने का इस्रार (आग्रह) अपनी जगह पर था. अगर मैं ज़रा भी हां कर देता, तो मुझे मालूम था, वो कहता इसके लिए तुम कुछ रक़्म जमा करो. काफ़ जाओ या कहीं और, इतनी बड़ी अरब दुनिया है. यमन से ले कर शाम (सीरिया) और लेबनान तक. झाड़ी हिलाओगे, तो उसमें से भी रियाल बरसेंगे, रक़्म तुम भेजना, ज़ेवर मैं बनवा दूंगा, ख़ूब? और मुझे भी कहना पड़ता–ख़ूब!

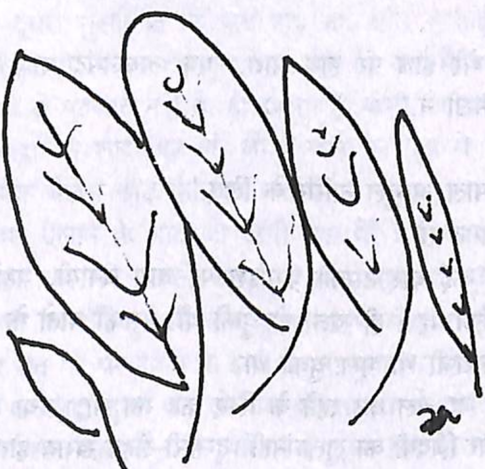
अब किसी के फेर में नहीं आऊंगा, ये मेरा आख़िरी फ़ैसला था.

मुनीरा के भी नहीं? मेरे अंदर की आवाज़ ने सवाल किया.

मैं चुप रहा.

एक दिन एवज़ ने बताया : मुनीरा ने किसी रईस आदमी के पैग़ाम को क़बूल कर लिया है. (जारी–पेज़ 146 तक, बक़ाया 147 से 176) ❑

(अल-आसिफ़ा, पब्लिशर : शहरज़ाद, बी-155, ब्लॉक 5, गुलशने-इक़्बाल, कराची)





दीन के मुहाफ़िज़

सय्यद सईद नक़वी

"मैं देख रहा हूँ कौन है!" घंटी की तेज़ आवाज़ सुनते ही शहज़ाद ने गोया बाक़ी घर वालों को ज़हमत से बचाया. छह फ़ीट ऊंचा लोहे का दरवाज़ा जिस पर बाहर से ताला पड़ा था और रात में अंदर से भी ताला डाल दिया जाता था. दरवाज़े के ऊपर बाक़ाइदा कांटेदार तार के छल्ले बना कर लगाए गए थे कि कोई ऊपर चढ़ कर न आ सके. लेकिन अब अंदर से ये नज़र नहीं आता था कि बाहर कौन है. शहज़ाद ने गेट का छोटा-फाटक खोला और बाहर अपने दोस्त ख़ालिद को देख कर ख़ुश हो गया. "कितनी बार कहा है कि पहले पूछ कर फिर दरवाज़ा खोला करो." अंदर से अब्बा के बड़बड़ाने की आवाज़ आयी.

तक़सीम के वक़्त कराची मछेरों की बस्ती, ख़ूबसूरत फ़ौजी छावनी और बंदरगाह थी. हिंदुस्तान से आने वाले मुहाजिरों से एक शहर बन गया. और देखते ही देखते आबादी में मुल्क के दूसरे शहरों को बहुत पीछे छोड़ गया. अम्नो-आमान का गहवारा, समंदर के किनारे मासूम माक़ूल. ऐसे में व्यापार और कारोबार ख़ूब फला-फूला और आसपास के देहातों और क़स्बों से ख़ासी तादाद में लोगों ने यहां सुकूनत इख़्तियार की. बसीला के पुल की पहली चौरंगी पर लड़कियों का एक बड़ा कॉलेज है. उसी की बाज़ू वाली गली में शहज़ाद के वालिद ने घर बनाया था. इन्कम टैक्स महकमे में क्लर्क थे. औसत आमदनी वाले लोगों का-सा था. कभी पुरसुकून और जरायम से दूर हुआ करता था, मगर पिछले दस, पंद्रह बरसों से फ़िरक़ावारियत, जरायम और लाक़ानूनीयत ने लागों का जीवन दूभर कर दिया था.

"......यार, कहां थे? तुमने तो कल आने का वादा किया था," शहज़ाद ने ख़ालिद से गिला किया.

"अब, अब तो आ गया हूँ. तुम से तू, ये भी न हुआ", ख़ालिद ने शहज़ाद के कांधे पर हाथ मार कर कहा :

काम उससे आ पड़ा है कि जिसका जहान में
लेवे न कोई नाम सितमगर कहे बग़ैर

ख़ालिद को अश्आर ख़ूब याद थे और इस्तेमाल का कोई मौक़ा हाथ से जाने न देता था.

''सरकार आप हुक्म करें,'' शहज़ाद ने मुस्करा कर कहा. ख़ालिद अपनी 14 साल पुरानी टयोटा क्रोना की तरफ़ बढ़ा और उसकी डिक्की को खोल दिया.

''यार, ये क्रिकेट के सामान का थैला अपने पास रख लो,'' हाथ के इशारे से शहज़ाद को पास बुलाया और थैलें की ज़िप खोल दी. ऊपर ही दो ग्रे निकालेस के बल्ले और पैड वग़ैरह थे. उन्हें एक तरफ़ करके उसने थैले की तह को थोड़ा खोला. शहज़ाद को उसमें क्लाशन्कोफ़ की झलक नज़र आयी. बौखला कर पीछे हट गया, ''अबे! मरवाएगा क्या?'' शहज़ाद ने थूक निगला.

''यार, अब मैं यारों को धोखा तो देने से रहा. इस वक़्त हालात गर्म हैं और मुझे ये कहीं रखवानी है.''

शहज़ाद का दिमाग़ गोया ओवर टाइम में काम कर रहा था कि इस मुश्किल से निकले, ''यार वैसे तो सब ठीक है, लेकिन अब्बा को पता चल गया तो घर से निकाल देंगे.''

अब ख़ालिद चिढ़-सा गया, ''नहीं रख सकते तो साफ़ कहो. अब्बा को बताने की क्या ज़रूरत है? ज़ाहिर है, क्रिकेट का सामान है.'' यह कह कर उसने धड़ से गाड़ी की डिक्की बंद की.

''अरे! नहीं, नहीं,'' शहज़ाद ख़ालिद को नाराज़ नहीं करना चाहता था. उसने डिक्की खोली और थैला अंदर ले जाकर अपने कमरे में पलंग के नीचे रख दिया. ख़ालिद वापस गाड़ी में जा बैठा था. शहज़ाद दूसरी तरफ़ का दरवाज़ा खोल के बैठ गया.

''चलो यार, आग़ा का जूस पीने चलते हैं,'' शाम होते ही पैदल, मोटर साइकिलों और गाड़ियों में लोग यूं 'आग़ा जूस हाउस' का रुख़ करते थे, गोया जूस मुफ़्त तक़्सीम हो रहा हो. इलाक़े के नौजवान सिगरेट या पान और जूस के दरमियान मुल्क के तमाम सियासी, आर्थिक और समाजी मसाइल तय कर लेते थे. औसत तबक़े के जोड़े भी घरेलू और रोज़गार की घुटन से तंग आकर इस सस्ती तफ़रीह में चंद घंटे गुज़ार के ताज़ा दम हो जाते. शहज़ाद और ख़ालिद का पिछले तीन साल से इक्नॉमिक्स का आख़िरी साल था. कोई छह महीने पहले शहज़ाद का दो लड़कों से आग़ा जूस हाउस पर झगड़ा हो गया था. बात बहुत छोटी थी कि पहले जूस का आर्डर किसने दिया. मगर आजकल लोग गोया मुआमलों को सुलझाने के बजाय मरने और मारने के बहाने ढूंढ़ते हैं. शहज़ाद यूं तो अकेला था, मगर आसपास मुहल्ले के शनासा चेहरे देख कर पीछे न हटा, लेकिन जब मुख़ालिफ़ लड़कों ने खटाक से कमानीदार चाक़ू

खोला, तो वो सब परिचित चेहरे अचानक ग़ायब हो गए. ऐसे में ख़ालिद ने नेफ़े में उड़से पिस्तौल की झलक दिखा कर झगड़ा मिनटों में चुका दिया था. उसी दिन से दोनों की ख़ूब दोस्ती हो गयी. ख़ालिद के पास गाड़ी थी और पैसे भी उमूमन हाज़िर रहते थे. शहज़ाद पैदल भी था और फ़ोकट भी. उसे ये दोस्ती ख़ूब रास आ रही थी.

कोई तीन दिन बाद ख़ालिद और शहज़ाद की दोबारा मुलाक़ात हुई. आज जुमा था. कॉलेज की छुट्टी. ख़ालिद सुबह ही गाड़ी लेकर आ गया था. और दोनों दोस्त बेमक़्सद घूम रहे थे.

"सोचता हूँ, आज तुम्हे कुछ अच्छे दोस्तों से मिलाऊं," ख़ालिद ने कहा.

"कौन दोस्त?"

"यार, तुझे तो पता ही है, मैं तेरी तरह ला-मज़हब नहीं हूँ. तू तो बस नाम का मुसलमान है. ये चंद हमख़्याल लोगों का ग्रुप है जो मज़हब को दूसरों की दस्तदराज़ी से बचाता है," ख़ालिद ने तफ़्सील बतायी.

"कैसे बचाता है? क्या तब्लीग़ी जमाअत (प्रचार समूह) से मिलाने ले जा रहे हो?" शहज़ाद ने सवाल दाग़ा.

"नहीं यार :

रगों में दौड़ते फिरने के हम नहीं क़ाइल
जो आंख ही से न टपका तो फ़िर लहू क्या है

ख़ालिद के जवाबात ऐसे ही गोलमोल होते थे. वो एक स्टूडेंट था. स्कूल के तालिब इल्मों में उसका शुमार ज़हीनतरीन शागिर्दों में होता था. 11 वीं जमाअत में एक नुमाइश में कोरिया के स्टाल पर गया. उसके बाद से ख़ुदसाख़्ता कम्युनिस्ट हो गया. किमअल संग की जितनी किताबें उसे हर हफ़्ते मिलती थीं, सब पढ़ डालीं. दुनिया भर की आर्थिक समस्याओं और उसके कम्युनिस्ट हल उसने सब तय कर दिये. फिर एक साल में दिल उकता गया. कोई छह माह बाद एक पीर साहब की मुरीदी में आ गया. दाढ़ी बढ़ा दी. टख़नों से ऊंची शलवार-घर वालों को तंग करना शुरू कर दिया: ये तस्वीरें उतारो, संगीत बंद करो, बुर्क़ा ओढ़ो. ये भूत उड़ा तो एक और जमाअत के हाथ चढ़ गया जिसने उसे मज़हब की इज़्ज़त बचाने के लिए एके-47 की राह पर लगा दिया. अब इस रास्ते पर इतना आगे निकल आया था कि वापसी के सारे रास्ते बंद हो गए थे.

"यार! तू पांच वक़्त की नमाज़ तक तो पढ़ता नहीं, ये मज़हब को बचाने का ठेका तुझे कैसे मिल गया!" शहज़ाद की आवाज़ ख़ालिद को वापस हाल में खींच लायी, "यार, इन सतही बातों में वक़्त ज़ाए न किया करो. मौलाना साहब ने कई दफ़े बताया है कि दिलों का हाल ख़ुदा जानता है. हुलिया वो रखो कि शक शुब्हे से बचो."

ख़ालिद की टयोटा अब नाज़िमाबाद के उत्तर में एक नई ज़ेरे-तामीर बस्ती की तरफ़ बढ़ रही थी. ये पहाड़ी के दामन में बसी एक नई आबादी थी, जहां अभी

ज़्यादातर मकान ख़ाली थे या निर्माणाधीन थे. जो चंद मकान आबाद थे, उन्हीं में से एक में शहज़ाद ख़ालिद के साथ दाख़िल हुआ. दस बारह लड़के, ज़्यादातर बीस से पच्चीस बरस की उम्र के बज़ाहिर बेज़रर (निरापद) आम-से. चार एक तरफ़ बैठे ताश खेल रहे थे. तीन चार एक टी.वी. के गिर्द जमा थे. अगर कुछ मुख़्तलिफ़ था, तो कमरे में दो इज़ाफ़ी टी.वी. जिन पर उस घर के आसपास का मन्ज़र था. दीवार के साथ कुछ एके-47 खड़ी थीं.

"ये है मेरा पुराना और तुम लोगों का नया दोस्त-शहज़ाद!" ख़ालिद ने गोया बहुत से फ़ासले एक ही जस्त में तय करा दिए.

थोड़ी-सी देर में एक अधेड़ उम्र के शख़्स ने माहौल को संजीदा रंग दे दिया.

"सबसे पहले रिपोर्ट. ख़ालिद पहले तुम बताओ."

"मैं, जमाल और जावेद परसों सुर्ख़ रू हुए. निशानज़दा घर पर हम रात दस बजे कूद गए थे. घर में दो मर्द थे और तीन लड़के. हमने पांचों को हलाक कर दिया. एक औरत ने तो मेरे पैर पकड़ लिये, मगर मैंने उसको एक ठोकर से हटा दिया. दो छह, सात साल के संपोले बच निकले. बस, इस कमबख़्त जमाल को पता नहीं, क्या तकलीफ़ है! छोटों को छोड़ देता है. आयंदा मैं इसे साथ नहीं ले जाऊंगा."

'अल्लाहो-अकबर' का नारा गूंज उठा. अधेड़ उम्र का लीडर शहज़ाद को बग़ौर देख रहा था. शहज़ाद को लग रहा था उसकी सांस रुक जाएगी. चेहरा धुआं हो गया था. आंखों के नीचे अंधेरा छा रहा था.

"मगर ये लोग भी तो मुसलमान हैं!" उसे अपनी आवाज़ कुएं से आती महसूस हुई.

"नाम के मुसलमान. काफ़िरों से ज़्यादा ख़तरनाक. इनको रहने दिया, तो मज़हब ख़त्म हो जाएगा. इनको मारना ऐन सवाब है. कभी क़ुर्आन को ग़ौर से पढ़ा है!" अधेड़ उम्र के शख़्स ने कड़क के पूछा. शहज़ाद गुंग था.

वापसी पर शहज़ाद का ख़ालिद से झगड़ा हो गया. घर आने तक ख़ालिद ने उसे राज़ी कर लिया था कि वो सिर्फ़ 'खुले दिल' से ग्रुप के जलसों में शरीक हो और अगर उनसे सहमत न हो, तो सब भूल कर अपनी राह ले. ख़ालिद ने उसे बताया कि उसे शहज़ाद की ज़ेहानत, बहादुरी और दोस्ती पर कितना फ़ख़्र है. और सब दोस्तों की मुख़ालफ़त के बावजूद उसने शहज़ाद को वहां ले जा कर कितना बड़ा ख़तरा मोल लिया है. कैसे उसे एक नौकरी समझना चाहिए जिसमें गाड़ी भी मिलेगी और तनख़्वाह भी और सबसे बड़ी बात कि परलोक भी संवरेगा.

शहज़ाद के घर ख़ालिद का आना जाना बढ़ गया. हफ़्ते में तक़रीबन पांच दफ़ा ख़ालिद शहज़ाद को लेकर उत्तर नाज़िमाबाद की तरफ़ जाता. घर वालों की नज़र में शहज़ाद कम्प्यूटर कोर्स कर रहा था. अगले दो, तीन माह में शहज़ाद के ज़ेहन में

शराफ़त और नेकनीयती के जाले बिखरते चले गए. उसे आहिस्ता-आहिस्ता यक़ीन-सा होने लगा कि ख़ालिद और उसके दोस्त दीन की ख़िदमत में अपनी जान देने को तैयार हैं और इसीलिए दूसरे की जान लेने से गुरेज़ नहीं करते. इस दरमियान शहज़ाद ने मूंछे रख ली थीं. चाल में फुर्ती, बातचीत में आत्मविश्वास और माली हालात में बेहतरी आ चुकी थी. उसने बाप और बड़े भाई से डरना छोड़ दिया था. भावज उसके दिये हुए तुहफ़ों से ख़ुश थीं. अम्मां कमाऊ पूत की दुल्हन ढूंढ़ रही थीं.

तक़रीबन छह माह बाद शहज़ाद को पहली बार दीन के दुश्मनों को ठिकाने लगाने का मौक़ा मिला. ख़ालिद, सलामू और क़ादिर शाम आठ बजे एक घर में जा कूदे. कमाल और रशीद बाहर गाड़ी में ही बैठे रहे. घर के मकीन बंदूक़ की नालियों के आगे कांप रहे थे. और शहज़ाद जो बाहर से आत्मविश्वास से भरा नज़र आता था, अंदर से ख़ुद भी कांप रहा था. कई बार उसे लगा कि वो सब उलट देगा और उसमें उसकी आंतें तक बाहर आ जाएंगी. मगर शहज़ाद ही सबसे ज़्यादा चीख़ रहा था, "तुम लोग दुश्मन हो."

"मगर भाई, हम तो मुसलमान हैं, कलिमा सुन लो."

"मुसलमान हो तुम? उनकी पूजा करते हो", शहज़ाद ने दांत पीस कर दीवार पर लगी पांच नामों की तख़्ती की तरफ़ इशारा किया. उसकी आंखों में दहशत थी. दोनों हाथ पसीने से भीगे हुए थे. दिल सीने का पंजा तोड़ के बाहर आने पर आमादा था. घर के तमाम मर्दों के हाथ पीछे बांध कर सबसे पहले शहज़ाद ने गोली चलायी. उसकी उंगली अकड़ गयी थी. लिबलिबी दबती ही नहीं थी. ख़ालिद ने उसे भी एक अदद गोली से नवाज़ा. और अपनी बंदूक़ शहज़ाद की तरफ़ मोड़ दी. सलामू ने हाथ बढ़ा कर शहज़ाद की उंगली लिबलिबी पर दबा दी.

इस 'बिस्मिल्लाह' के बाद तो गोया शहज़ाद का हाथ खुल गया. बर्बरीयत का बाज़ार जो पहले से गर्म था, और तन्दूर हो गया. क़ातिलों के गिरोह में एक और दिलावर का इज़ाफ़ा हो गया. अगले छह माह में शहज़ाद ने आठ हमलों में हिस्सा लिया. सिर्फ़ यही नहीं, बल्कि संगठन के ख़र्चों के लिए इग़वा और गाड़ियों की चोरी में भी हाथ बंटाया.

हालांकि उसे यक़ीन था कि कोई उसकी वाबस्तगी से आगाह नहीं, लेकिन कुछ लोगों से उसके ताल्लुक़ात में एक ख़िचाव-सा आ गया था. और कुछ अपने निकलवाने के लिए उसे ढूंढ़ने लगे थे.

आज की मीटिंग में एक 'बड़े काम' का प्लान तय किया गया था. जुमे की नमाज़ के बाद एक मस्जिद को चारों तरफ़ से घेर कर शहज़ाद, ख़ालिद, सलामू, क़ादिर और रशीद मुख़्तलिफ़ दरवाज़ों से दाख़िल होकर एके-47 से फ़ायर खोल देंगे. एक ही वारदात में उम्मीद थी कि पचास के क़रीब दीन के दुश्मनों से ज़मीन पाक हो जाएगी. पिछली रात डिफ़ेंस से एक पिजारो जीप भी इग़वा कर लाए थे. आज सोमवार

था और चार दिन बाद जुमे की नमाज़ के बाद का प्रोग्राम तय था. अप्रैल का मौसम था. गर्मियों की आमद-आमद थी. अभी तक बहुत-से नमाज़ी मस्जिद के बाहर तक सफ़बंदी कर चुके थे, जिससे मोर्चा लेने में आसानी की संभावना थी.

शहज़ाद के पास अब अपनी गाड़ी थी. ख़ालिद को छोड़ के घर चला आया. मुहल्ले में किसी से सलाम-दुआ का सवाल ही नहीं था. गाड़ी बंद करके घर के गेट पर पहुंचा, तो एक नौजवान ने उससे सिद्धीक़ी साहब का पता पूछा. सिद्धीकी साहब दाएं बाज़ू वाली गली के आख़िरी मकान में रहते थे. जितनी देर में शहज़ाद पता समझाता, उसे पुश्त में पिस्तौल की नाली की ठंडक और सख़्ती महसूस हुई. उसका रिवाल्वर शहज़ाद के पहलू में था.

"दरवाज़ा खुलवाओ और कोई आवाज़ निकाली तो मारे जाओगे...."

घंटी की आवाज़ पर शहज़ाद की निगाहें लोहे के गेट के पार अधेड़ बाप को जा-नमाज़ से उठ कर चप्पल घसीटते आता देख रही थीं. "कौन" की आवाज़ पर उसने चाहा कि चीख़े–अब्बा! दरवाज़ा मत खोलना, लेकिन पिस्तौल की सख़्ती से डर गया था. दरवाज़ा खुला और शहज़ाद धक्के से औंधे मुंह अंदर बाप पर गिर पड़ा. उसके पीछे चार दाढ़ी वाले जवान आंगन में दाख़िल हो चुके थे. दो के हाथों में एके-47 थीं. उन्होंने शहज़ाद, उसके बड़े भाई और वालिद को एक कमरे में जमा किया. मां और भावज को बावर्चीख़ाने में. शहज़ाद का ख़ून खौल रहा था. काश! इस वक़्त मेरे पास मेरी एके-47 होती. जैसे उसके जज़्बात पढ़ कर एक नौजवान ने उसके मुंह पर टेप मारा, "हाथ पीछे से बंधवाओ."

"बेटा, हमारा क़ुसूर क्या है?" शहज़ाद के वालिद बार-बार यही सवाल करते थे. बावर्चीख़ाने के अंदर से शहज़ाद की मां की घुटी-घुटी रोने की आवाज़ भी आ रही थी. "बकवास बंद कर बूढ़े," आख़िर एक नौजवान ने तंग आकर शहज़ाद के वालिद के सर पर ज़ोर का हाथ मारा.

"तुम हरामज़ादों का क़ुसूर ये है कि तुम सब दुश्मने-ईमान हो और जब तक तुम लोग ज़िंदा हो, दीन को तुम से ख़तरा रहेगा."

"नहीं बेटा, तुम को कोई ग़लतफ़हमी हुई है. मुझ से कलिमा सुन लो. हम भी उसी एक अल्लाह और मुहम्मद स.व. के मानने वाले हैं." शहज़ाद के वालिद को यक़ीन था कि उसके बाद उन लोगों को अपनी ग़लती का एहसास हो जाएगा.

"चुप मुनाफ़िक़! ले बूढ़े, सबसे पहले तू ही चल," गो शहज़ाद को अपने सीने में गर्म सीसा घुसता हुआ महसूस हुआ, लेकिन उसकी बुझती हुई आँखों में आख़िरी मंज़र उसके बाप की कनपटी थी, जिसकी दाहिनी तरफ़ एक सुराख़ तीसरी आंख की तरह उसको देख रहा था. ❑

(माहनामा शाइर, मुंबई–जनवरी 09)

51-Arborfield Way, Lake Grove NY-11755 (USA)

इत्रे-हयात

जावेद अख़्तर चौधरी



सूज़ी को फ़ुटबाल के खेल सें जुनून की हद तक दिलचस्पी थी और टोनी फ़ुटबाल का माना हुआ खिलाड़ी था. दोनों एक दूसरे को चाहते थे और शादी का इक़रार कर चुके थे. मगर कुछ दिनों से दोनों एक दूसरे खिंचे-खिंचे से थे. लगता था, इस बार लड़ाई तूल पकड़ेगी, क्योंकि इस तरह की नाराज़ी अक्सर उनके दरमियान फ़ासले पैदा कर देती थी.

टोनी यूं भी खिलंदड़े स्वभाव का था, मगर मतभेदों के बावजूद सूज़ी टोनी को अपनाने के लिए बेहद संजीदा थी और उसे मनाने के लिए अक्सर ख़ुद ही पहल करती थी. इस बार भी वो मौक़ा ढूंढ़ रही थी. टोनी से बहुत दिनों से मुठभेड़ भी नहीं हुई थी. वो अपनी दोस्त के साथ लंच के लिए जा रही थी. वो रूथ के साथ थी, मगर टोनी की याद में खोई हुई थी. उसे अपना लड़कपन याद आ रहा था, जब वो पहली बार टोनी से मिली थी. उसी लम्हे उसे विपरीत दिशा से टोनी आता नज़र आया. वो तो चुप रही, मगर रूथ ने टोनी से पूछ लिया कि वो कहां जा रहा है?

टोनी ने कहा, 'I am going fishing.'

सूज़ी को मज़ाक़ सूझा. उसने यूं ही टोनी की टांग खींचने को कहा, 'You can't catch a dead fish' और खिलखिला कर हंस पड़ी.

टोनी ने उसे नफ़रत से देखा और कहा, 'I catch fish only not slughs.' उसका बरजस्ता फ़िक़रा सुन कर सूज़ी का मुंह लटक गया.

उस दिन ही सूज़ी ने तहैया कर लिया था कि वो पहले टोनी से इस तौहीन का बदला लेगी, फिर उससे सुलह करेगी. चंद दिन बाद स्कूल में लंच के दौरान में जब

शेष

तालिबे-इल्म खाने से फ़ारिग़ होकर स्कूल के मैदान में खेलकूद और ख़ुश गप्पियों में मसरूफ़ थे, टोनी अपने दोस्तों के साथ एक बेंच पर बैठा बातें कर रहा था. सूज़ी को शरारत सूझी और वो अपनी दोस्त केली के हमराह उनकी तरफ़ बढ़ी. टोनी ने उनको अपनी तरफ़ आते देखा, तो उठकर स्कूल की चहारदीवारी की तरफ़ चल दिया. वो दीवार की तरफ़ मुंह करके खड़ा हो गया. लग रहा था, उसे फ़ितरी ज़रूरत अचानक आ पड़ी हो. सूज़ी ने जब ये मन्ज़र देखा, तो अपनी तौहीन का बदला लेने के लिए उस के पीछे जा खड़ी हुई और पूछा, 'तुम दीवार को गंदा क्यों कर रहे हो?'

'मैं दीवार को गंदा नहीं कर रहा, तुम्हारा ख़ाका बना रहा हूँ. अब वो गंदी हो जाए, तो मैं क्या करूं?' उसने तन्ज़न कहा.

सूज़ी के आग लग गयी. फ़ौरी बदला लेने के लिए उसने हमला किया, 'चच् चच्! कैसी शर्म की बात है. इसके लिए तुम्हें दीवार का सहारा लेना पड़ा. किसी और ने घास नहीं डाली और कुछ नहीं तो तुम मेरे पास आ सकते थे,' कहते हुए वो फ़ौरन वहां से हट गयी. टोनी की सारी शोख़ी धरी की धरी रह गयी.

चंद दिनों बाद उनके दोस्तों ने हैरत से देखा कि टोनी और सूज़ी फिर से बहुत अच्छे दोस्त बन गए थे और एक दूसरे पर न्यौछावर हो रहे थे. सूज़ी ने स्कूल छोड़ कर एक सुपर स्टोर में नौकरी कर ली थी और टोनी बाक़ाइदा बतौर पेशेवर फ़ुटबाल खेलने लगा था. उसकी दिन-रात की मेहनत रंग लायी और वो अपने शहर की टीम में स्ट्राइकर की पोज़ीशन में खेलने लगा था. और कुछ ही अर्से के बाद उसने अपने आप को मनवा लिया था. उम्दा खेल की वजह से टोनी की शुहरत दूर-दूर तक फैल गयी थी. उसके चाहने वालों की तादाद में दिन-ब-दिन इज़ाफ़ा हो रहा था. मौक़ापरस्त नौजवान औरतें उसे अपने जाल में फंसाने के लिए तितलियों की तरह उसके गिर्द मंडलाने लगी थीं. सूज़ी के लिए ये ख़तरे की घंटी थी. गो दोनों दो बरस से इकट्ठे रह रहे थे और सूज़ी को टोनी पर भरोसा भी था. फिर भी सूज़ी ने मुनासिब जाना कि टोनी को शादी की तारीख़ तय करने पर आमादा कर लिया जाए. टोनी अभी फ़ुटबाल में कोई मार्का सर होने का इंतिज़ार कर रहा था. कुछ मुद्दत बाद उसने सूज़ी की ज़िद के आगे हथियार डाल दिये और उन्होंने शादी कर ली.

हनीमून के लिए वो स्पेन गए थे. वहीं गुज़ारे दो हफ़्ते उनकी ज़िंदगी के यादगार दिन थे. ख़ुश व ख़ुर्रम ज़िंदगी के साथ तीन बरस गुज़र गए, लेकिन औलाद से महरूमी अक्सर सूज़ी की परेशानी का बाइस बनती. दोनों बज़ाहिर सेहतमंद और नॉर्मल थे. वो जल्द-अज़-जल्द मां बनना चाहती थी, जबकि टोनी मुत्मईन था. उसका ख़याल था कि सूज़ी बच्चा पैदा नहीं कर सकती, जबकि सूज़ी के नज़दीक टोनी औलाद पैदा करने की सलाहियत से महरूम था, वर्ना क्या वजह थी जबकि वो कोई एहतियाती तदबीर भी इख़्तियार नहीं कर रही थी, फिर भी शाख़े-आरज़ू फलदार नहीं

हो रही थी. एक दिन दोनों ने इस पर ख़ासी बहस की और इस नतीजे पर पहुंचे कि फ़ेमिली डाक्टर से मिला जाए. दोनों के मुख़्तलिफ़ टेस्ट हुए, तो राज़ खुला कि टोनी 'इत्रे-हयात' से महरूम है.

नौजवान सेहतमंद फुटबॉलर इत्रे-हयात (शुक्राणुओं) से महरूम ? टोनी को ज़बरदस्त धक्का लगा. डॉक्टर ने बच्चा पैदा करने के लिए उन्हें मुख़्तलिफ़ तजवीज़ें पेश कीं और सोच-विचार का मौक़ा दिया.

सूज़ी को Artificial Insemination का मश्वरा अच्छा लगा था, लेकिन टोनी ने चिकित्सकीय और क़ानूनी पेचीदगियों का सहारा लेकर इस ख़याल को रद्द कर दिया. लेकिन सूज़ी की ज़िद पर दोनों ने अपने-अपने दोस्तों पर नज़र दौड़ायी, फिर ये फ़िक्र सताने लगी कि टोनी हमेशा के लिए दोस्तों की नज़र में मज़ाक़ बन कर न रह जाए या ज़िंदगी किसी स्टेज पर ब्लेकमेलिंग का शिकार न हो जाए. लेकिन ये बात तय हो गयी थी कि दोनों बच्चे के ख़्वाहिशमंद थे और इस पर फ़िक्रमंद थे कि कौन-सा तरीक़ा महफ़ूज़ रहेगा?

दिसंबर की सर्द शामें थीं, जब एक शाम टोनी सूज़ी को लेकर शराबख़ाने गया. अभी उसने बियर के दो गिलास ही चढ़ाये थे कि उसके दोस्त भी पब में आ गए. वो सब स्नोकर खेलने लगे. टोनी अपने दोस्तों में कुछ इस तरह घुलमिल गया कि उसे सूज़ी का ख़याल तक न रहा था. सूज़ी ने कुछ देर तो उसका स्नोकर का खेल देखा फिर वो अपनी सीट पर बैठ कर ख़ामोशी से ख़ुद भी शराब से शग़्ल करने लगी थी. उसे तनहा बैठे देखकर एक अजनबी उसके पास आया और पूछा कि क्या वो उसके साथ बैठ सकता है ? सूज़ी ने सर हिला कर उसे बैठने को कहा.

वो दरमियाना क़द का ठीकठाक शख़्स था. उसे औरतों को शीशे में उतारने का फ़न आता था. ज्योंही सूज़ी की शराब ख़त्म होती, वो और ले आता. सूज़ी का मूड ख़ुशगवार हो गया, तो अजनबी ने उसे कहा, 'चलें, खुली हवा में चहलक़दमी करते हैं.'

सूज़ी के हवास मदहोशी की सरहद को छू रहे थे. जब उसके बदन में दिसम्बर की रात की ठंडक चुभने लगी, तो अजनबी ने उसे अपने सीने से लगा लिया और प्यार करने लगा. सूज़ी सुरूर के आलम में थी. उसे इस जिस्मानी क़ुर्बत से मज़ा आने लगा था. अजनबी ने उसे अपने ओवरकोट में छुपा लिया था. दिल की धड़कनें तेज़ हुई, होंठ से होंठ पैवस्त हुए. चंद लम्हों की तेज़ हरकतों के बाद उन्हें महसूस हुआ कि उनके गर्म जिस्मों की सारी हरारत मौसम ने जज़्ब कर ली थी और अब ठंडक का एहसास उन पर छाने लगा था. अजनबी सूज़ी को सहारा दे कर पब के अंदर ले आया और शराब का एक और राउंड लाने के बहाने वहां से ग़ायब हो गया. जब पब बंद होने का वक़्त हुआ, तो टोनी भी लड़खड़ाते क़दमों से सूज़ी के पास आया. टैक्सी

मंगायी और उसे फ़्लैट में ले गया.

दोनों देर तक बेसुध सोते रहे. सूज़ी जब उठी, तो गुज़री रात के वाक़िआत नज़रों के सामने घूमने लगे. उसे अजनबी के साथ गुज़रा हुआ वक़्त याद आया, तो उसकी आंखों में चमक-सी पैदा हुई. लेकिन उस अजनबी का चुपचाप पब से चला जाना उसे अच्छा न लगा था. मगर वो क्या करती! वक़्त गुज़रता रहा. सूज़ी चंद बार तनहा पब में भी गयी. उसे ढूंढ़ती रही, लेकिन उसे वो अजनबी फिर नज़र नहीं आया. एक माह के बाद जब सुबह के वक़्त सूज़ी को मितली हुई और साथ ही वक़्त आने पर उसकी माहवारी भी टल गयी, तो वो अपने डॉक्टर के पास गयी. मुख़्तलिफ़ टेस्ट के बाद उसे मालूम हुआ कि वो गर्भवती है. उसे अच्छी तरह मालूम था कि अजनबी के साथ मसर्रत के चंद लम्हे उसका फल लाये थे. मां बनने की शदीद ख़्वाहिश तो उसके अंदर तड़प रही थी, तो भी वो टोनी के बजाय किसी और का इत्रे-हयात लिये हुए थी. उसने काफ़ी सोच-विचार के बाद फ़ैसला किया कि वो इस हादसे के बारे में टोनी को बताए.

सूज़ी की बात सुन कर अव्वल-अव्वल तो टोनी को यक़ीन न आया, लेकिन जब सूज़ी ने उसे मेडिकल रिपोर्ट दिखायी, तो उसके पास सूज़ी की बात मान लेने के सिवा कोई चारा न था. उसने एक फीकी मुस्कराहट के साथ सूज़ी का हाथ अपने हाथ में लेकर थपथपाया और कहा 'तुम्हारी ख़्वाहिश के आगे सर डालता हूँ, क्योंकि मैं तुम से मुहब्बत करता हूँ.' कहने को तो टोनी ने कह दिया, लेकिन बक़ौल-शाइर :

मगर एक शाख़े-निहाले-ग़म जिसे दिल कहें सो हरी रही

सूज़ी को अच्छी तरह आज भी याद था कि ज़चगी की रुख़्सत के लिए बच्चे के लिए तुहफ़े खरीदने के वास्ते फ़ैक्टरी के दस्तूर के मुताबिक़ रूथ ने अपने साथियों से सूज़ी के लिए चंदा ज़मा किया था. लेकिन एक एशियाई ने इसके बारे में चुभते जुम्ले कहे थे. उसने कहा था, 'मैं क्यों पैसे दूं? सूज़ी को जिसने हामिला किया था, वो सारे ख़र्च बरदाश्त करे.' फिर वो बहुत ज़ोर से हंसा और उसने कहा था, 'मुझे यक़ीन है कि सूज़ी को भी मालूम नहीं कि वो किस के बच्चे को जन्म देगी!'

एक और एशियाई ने जो बहुत बातूनी था और जिसकी बातें बहुत दिलचस्प होती थीं, उससे पूछा था, 'सूज़ी! लड़की होगी या लड़का?'

उसने जवाब में बड़े विश्वास से कहा था, 'मैं लड़का ही पैदा करूंगी.'

'क्या तुमने अल्ट्रा साउंड कराया था कि यक़ीन से कह रही हो?'

वो हंसते हुए कराह रही थी, 'कुत्ते का पिल्ला! लड़का है, जो अपने फ़ुटबॉलर बाप की तरह हर वक़्त ज़ोर-ज़ोर से पेट में लातें मारता रहता है.' फिर वो हंस दी.

उसे लोगों को लाजवाब करना आता था. लेकिन उस दिन इन बातों पर उसे गुस्सा भी बहुत आया था. ये इंडियन और पाकिस्तानी बहुत उज्जड़ और गंवार होते

हैं. न जाने क्यों दूसरों के मुआमलों में दख़्लअंदाज़ी करते रहते हैं. चंद लम्हों के लिए वो सोच में पड़ गयी थी. ये सोच कर उसे हौल आने लगता था. फिर भी ये तमाम बातें दस साल पहले की थीं. अब अतीत की सारी बातें उसकी नज़रों के सामने घूमने लगी थीं. टोनी फुटबाल के खेल से अच्छा ख़ासा कमा रहा था. इसके बावजूद सूज़ी ने नौकरी नहीं छोड़ी थी. वो शाम को पार्टटाइम काम करती. काम तो महज़ बहाना था, अपने पुराने दोस्तों से बराबर संपर्क रखने का, उनके साथ गपशप में वक़्त अच्छा गुज़ारने का. उन्होंने महंगे इलाक़े में बहुत बड़ा और ख़ूबसूरत मकान ख़रीद लिया था. टोनी ने क़ीमती सामान से घर सजा रखा था. टोनी को तेज़ रफ़्तार गाड़ियों का शौक़ था. उनके पास चार क़ीमती गाड़ियां थीं. वो आए दिन दोस्तों को पार्टियाँ करते रहते. साल में दो, तीन बार विदेशों की सैर भी कर आते. यूं ज़िंदगी बहुत आराम से गुज़र रही थी. इस तमाम अर्से में सूज़ी एक बार भी टोनी को खेलते हुए, मैच देखने नहीं गयी थी. वो टेलीविज़न पर मैच देखना पसंद करती थी.

फ़ैक्टरी कैंटीन में लोग अलग टुकड़ियों में बैठते और खाना खाते. गोरों के साथ अफ़्रीक़ी नस्ल सियाहफ़ाम भी बैठते. खाने से फ़ारिग़ होते ही गोरे अख़बार पढ़ते. मौसम, खेलों या फिर साथी औरतों से हंसी-मज़ाक़ में वक़्त गुज़ारते. कभी-कभार उनके साथ काले डॉमिनो खेलते. एशियाइयों की अपनी-अपनी टोलियां थीं. हिंदू और सिख इकट्ठे बैठते. ये लोग कैंटीन में तैयार किया हुआ खाना लेकर खाते, लेकिन चंद हिंदू वहां का खाना बिल्कुल न खाते. ये लोग उमूमन फुटबाल और क्रिकेट की बातें करते. या फिर फ़िल्मों और फ़िल्मी सितारों की बाबत आपस में तब्सिरे करते. चंद लोग स्टॉक मार्केट के उतार-चढ़ाव पर रायज़नी करते, बैंगलूर की सिलीकन वैली के बारे में बातें करते. इन लोगों से हट कर मुसलमानों की मंडली होती. ये उमूमन अपना खाना घर से लंच बॉक्स में लाते. खाने से फ़ारिग़ होते ही ताश खेलते. जो लोग ताश खेलने में हिस्सा न लेते, वो मज़हब और पकिस्तानी और कश्मीरी सियासत पर भरपूर हिस्सा लेते. ये लोग पीपुल्स पार्टी, मुस्लिम लीग और मुस्लिम कान्फ्रेंस के धड़ों में बंटे हुए थे. अपने-अपने आबाई इलाक़ों में रूनुमा होने वाले वाक़िआत को मज़े-मज़े से सुनाते. आज़ाद काश्मीर से आए हुए नौवतनी कुत्तों, बटेरों और बैलों की दौड़ के मुक़ाबले की बातें ज़ोर-शोर से करते. मीरपुर में रिहाइशी ज़मीन के प्लाटों की अॅलाटमेंट में बंदरबांट और क्रप्शन का रोना रोते.

अल्ताफ़ उनकी बातों में कम ही हिस्सा लेता. वो अपने साथियों से अक्सर कहता, 'आप हज़रात फ़ैक्टरी में मज़हबी और सियासी बातों से परहेज़ करें. इन बातों से ग़लतफ़हमियां पैदा होती हैं. दूसरे लोगों से मिल-जुल कर रहें. ताश खेलने और सियासी बातों के बजाय कोई किताब या रिसाला पढ़ लिया करें.'

साथी उसकी बातों को हंसी-मज़ाक़ में उड़ा देते.

एक दिन फ़ैक्टरी के ग्रेप वाइन पर ये बात सुनी गयी कि सूज़ी और टोनी में अलाहदगी हो गयी. टोनी घर छोड़ कर चला गया और घर पर 'फ़ॉर सेल' का बोर्ड लगा हुआ नज़र आया. सूज़ी ने फ़ैक्टरी में काम करना छोड़ दिया. उसके मुता'ल्लिक़ बातें उसकी दोस्त रूथ बताया करती थी. उसने बताया कि सूज़ी ने टोनी को बेटे से मिलने के लिए मना कर दिया. मुक़द्दमे के दौरान उसने अदालत में बताया कि टोनी उसके बेटे का असली बाप नहीं, क्योंकि वो औलाद पैदा करने का अहल नहीं. टोनी ने बहुत विरोध किया. उसके विरोध पर सूज़ी ने कहा कि वो चाहे तो बाप का रिश्ता साबित करने के लिए बच्चे और ख़ुद का डीएनए टेस्ट करवा ले.

फ़ैक्टरी में जिसने भी सुना, उस पर इज़हारे-ख़याल किया. गोरे लोगों का अंदाज़ इस हद सचेत था कि जैसे इसकी कोई अहमियत ही न थी. हिंदुओं सिखों का रद्दे-अमल मिला-जुला था. अलबत्ता मुसलमानों को ख़ूब-ख़ूब बातें बनाने का अच्छा मौक़ा हाथ आया था. मुनीर ने जब ये बात सुनी तो कहा, 'यार, तुम लोग सूज़ी के हरामी बच्चे की पैदाइश पर बहुत बातें बनाते थे, क्या तुम्हें मालूम नहीं कि हमारी कम्युनिटी में भी ऐसा ही हो रहा है.' उसने बताया कि वो एक फ़ेमिली को जानता है जिसमें शौहर बच्चा पैदा करने के क़ाबिल नहीं था जबकि बीवी को बच्चे की शदीद ख़्वाहिश थी. फिर बहुत सोच-विचार के बाद आपसी मश्वरे से उन्होंने एक एशियाई डोनर से 'इत्रे-हयात' लिया था. अब उनके यहां चार साल का बच्चा मौजूद है. वहां बैठे लोगों ने हैरत से मुनीर की तरफ़ देखा. उन्हें उसकी बात पर यक़ीन नहीं आ रहा था. कुछ पलों के बाद मौलादाद ने कहा, 'फिर तो वो बच्चा...वो बच्चा तो नाजायज़ औलाद हुआ. यारो, ये तो क़यामत की निशानी है.' एक तरफ़ से आवाज़ आयी, हमारे मज़हबी पेशवा इस बारे में क्या कहते हैं? वो क्या फ़तवा देते हैं?

अल्ताफ़ जो उन सब की बातें ख़ामोशी से सुन रहा था, धीरे से बोला, 'हमारे मज़हबी पेशवाओं में ज़्यादा लोग तालीमयाफ़्ता नहीं हैं. उन्होंने अक़्ल का दरवाज़ा बंद कर रखा है.' उसने बताया कि जब लाउडस्पीकर ईजाद हुआ तो मज़हबी पेशवाओं ने उस वक़्त उसका इस्तेमाल हराम क़रार दिया था. उन्होंने कहा था कि इससे गाने-बजाने वालों को समाज में ख़ुराफ़ात और बे राहरवी फैलाने का मौक़ा मिलेगा. फिर जब एक मौलवी साहब ने लाउड स्पीकर से अज़ान सुनी तो, उन्होंने इसका इस्तेमाल जायज़ क़रार दे दिया. लेकिन अफ़सोस है कि इन मज़हबी पेशवाओं को लाउड स्पीकर का इस्तेमाल करना न आया. अब आप किसी भी मस्जिद में चले जाएं, तो आप देखेंगे कि मौलवी साहब ने दोनों हाथों से मज़बूती से माइक्रोफ़ोन थाम रखा है. मौलवी साहब की चीख़ कर बोलने से गरदन की रगें फूली हुई हैं. आंखों से शोले निकल रहे हैं. जिस्म पसीने में शराबोर है और वो धुआंधार तक़रीर कर रहे हैं. अपनी तक़रीर में वो कभी शे'र पढ़ते हैं, तो कभी अल्लामा इक़्बाल की रूह से मुख़ातब

होते हैं. उर्दू और फ़ारसी शाइरी का सहारा ले कर बलंद आवाज़ में ना'तिया कलाम पढ़ते हैं. फिर अगले लम्हे किसी आयत की तिलावत करते हैं और उर्दू में उसका तर्जुमा करते हैं. इस तरह उनकी बातों और नसीहतों में कोई रब्त नहीं. वो मस्जिद में सिवाय उसके जिसके नाम पर ये घर बनाया गया है, तमाम लोगों को ख़ुश करने के चक्कर में रहते हैं. उनकी हरकतों से ये मालूम पड़ता है कि इस्लाम एक जज़्बाती और पुरानेपन को पसंद करने वाला मज़हब है. मौलाना साहब ये तमाम बातें आहिस्तगी से धीमे-धीमे अंदाज़ में बड़ी नर्मी से भी अदा कर सकते हैं, लेकिन वो ऐसा नहीं करते. उन्हें तो बस, अवाम के जज़्बात से खेलना होता है. जोशोख़रोश में डूबी हुई तक़रीर के बाद चंदे की अपील की जाती है और अवाम दिल खोल कर चंदा देते हैं. लाखों नेकियों के हक़दार क़रार पाते हैं. जन्नत और ख़ूबसूरत लौंडों का तसव्वुर लिये ख़ुश-ख़ुश मस्जिद से बाहर निकल आते हैं.'

मुनीर ने टोका और कहा, 'बात हो रही थी कि बच्चे की पैदाइश को मज़हबी नज़रीये से कैसे देखा जाएगा?'

अल्ताफ़ ने कहा, 'मैं इसी तरफ़ आ रहा हूं. आप इन मौलवियों से कोई उम्मीद न रखें. मैं ऐसे चंद मज़हबी लोगों को जानता हूं जो ग़ैर मुस्लिमों को ख़ासकर गोरों को अच्छा नहीं समझते. लेकिन जब उन्हें ऑपरेशन के दौरान ख़ून की ज़रूरत पड़ती है, तो बिल्कुल नहीं पूछते कि ख़ून जो उन्हें दिया जा रहा है, वो सही भी है या नहीं? वो ख़ुद तो पैबंदकारी के लिए इंसानी अंग क़बूल कर लेते हैं, लेकिन मेंबर से लोगों को नसीहत नहीं करते कि वो भी मरने के बाद अपने जिस्म को दान करने की वसीयत करें. ये मज़हबी पेशवा सूद की बात तो करते हैं, लेकिन मौजूदा दौर के समाजी और माली मस्अलों पर तवज्जोह नहीं देते या फिर कमइल्मी की बिना पर कुछ कहना नहीं चाहते. ये किराये की कोख जैसे नाज़ुक और पेचीदा मस्अले पर क्या बात करेंगे?'

सब ही अल्ताफ़ की बातें बड़े ग़ौर से सुन रहे थे, हालांकि वो तो उसे लापरवाह व कमइल्म ही समझते थे. लेकिन आज तो वो बड़े काम की बातें कर रहा था. अल्ताफ़ के चेहरे पर संजीदगी छाई हुई थी. वो बड़े दिलनशीं अंदाज़ में कह रहा था, 'हमारे नीम पढ़े-लिखे मौलवियों ने मज़हब के साथ निहायत नामुनासिब रवैया इख़्तियार कर रखा है.' उसने बताया कि शहर का ग़ैर मुस्लिम व्यापारी अपने दही के डिब्बों पर 'हलाल' लिखवा कर कामयाब कारोबार कर रहा है. उसका तैयारकर्दा दही मुसलमानों में ख़ासा मक़बूल है. ऐसे ही मछली की फ़रोख़्त में 'हलाल मछली' 'हराम मछली' का मुआमला भी है. मैंने एक घर में ख़ाना काबा की तस्वीर के नीचे गुरु नानक की तस्वीर लटकी हुई देखी है. सादालौह घर वाले ये समझते हैं कि ये किसी 'पहुंचे हुए' मुसलमान पीर की तस्वीर है. ऐसे मुसलमानों की बहुतात लकीर की फ़क़ीर है, जो

बिना जांचे, पीढ़ियों से चले आते इलाक़ाई रस्मो-रिवाज को इस्लामी अक़ीदे का हिस्सा मान कर उन्हें बजा लाते हैं. पिछली तीन सदियों से मुसलमानों ने मौजूदा इल्म की रौशनी से फ़ायदा नहीं उठाया, जबकि दुनिया के दूसरे मुल्कों ने इल्म की रौशनी से न सिर्फ़ ख़ुद फ़ायदा उठाया, बल्कि उससे दूसरों को भी फ़ैज़याब किया और एक बड़ी ताक़त भी बन बैठे. पश्चिमी देशों ने इस इल्म को हासिल किया और आज दुनिया की सियासी और फ़ौजी ताक़त बन गए और हम तीसरी दुनिया के लोगों को अपना बेदाम गुलाम बना लिया.

वो थोड़ी देरके लिये रुका. अपने साथियों के चेहरों को उसने ग़ौर से देखा और फिर कहने लगा, 'लेकिन अब मुसलमान जाग उठे हैं. वो इल्म हासिल करने के लिए कोशिश कर रहे हैं. अल्लाह ने चाहा तो यहां के मुस्लिम नौजवान नयी सोच का रास्ता अपनाएंगे. यहां से इन्क़िलाब के सोते भी फूटेंगे और ब्रितानिया में हमारे दीन का नया सफ़र शुरू होगा.'

खाने का वक़्फ़ा ख़त्म हुआ, तो सब फ़ैक्टरी में काम करने चले गए. अल्ताफ़ के साथी उसकी बातों से बहुत मुतास्सिर हुए थे. दूसरे दिन पुलिस के दो अफ़सर फ़ैक्टरी में आए और अल्ताफ़ को पूछताछ के लिए अपने साथ थाने लग गए. मुसलमान कारकुनों में ग़म व गुस्से की लहर फैल गयी. उनका ख़याल था कि किसी हिंदू या सिख ने 'इन्क़िलाब' की ख़बर पुलिस को दी थी. बात फ़ैक्टरी की यूनियन तक जा पहुंची.

यूनियन के ओहदेदारों ने अपने तौर पर मुआमलों की जांच-पड़ताल की, तो उन्हें ये जान कर हैरत हुई, मैनेजमेंट ने कैंटीन में मज़दूर कारकुनों की बातें सुनने के ख़ुफ़िया यंत्र लगा रखे थे, जिसकी वजह से अल्ताफ़ को तफ़्तीश का सामना करना पड़ा. अब यूनियन के ओहदेदार भी बहुत गुस्से में थे कि उनकी शख़्सी आज़ादी पर हमला हुआ है. फ़ैक्टरी में मोर्चाबंदी की कैफ़ियत पैदा हो गयी थी. पुलिस ने चंद दिन बिना किसी वारंट और चालान के अल्ताफ़ को तफ़्तीश के लिए हवालात में रखा. लेकिन उससे इन्क़िलाब के बारे में कोई बात न मिल सकी थी. आख़िरकार पुलिस उसे रिहा करने पर मजबूर हो गयी थी. अल्ताफ़ के वापस आ जाने के बाद रफ़्ता-रफ़्ता सूरते-हाल तब्दील हो गयी थी. इसके बावजूद अल्ताफ़ ने गुफ़्तगू में सचेत रवैया अपना लिया था. अब वो अपने काम में मसरूफ़ रहता और किसी बहस-मुबाहसे में हिस्सा न लेता.

सूज़ी ने फ़ैक्टरी की मुलाज़मत छोड़ने के बाद मक़ामी अस्पताल में ड्रग के आदी लोगों के पुनर्वास के लिए बाक़ाइदा काम करना शुरू कर दिया था. वक़्त पर लगा कर बहुत आगे निकल चुका था. उसका बेटा जवान हो चुका था और उसने ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी से ग्रेजुएशन कर लिया था और कामयाब ज़िंदगी बसर कर रहा था. उसे ये

मालूम था कि टोनी उसका बाप नहीं. वो अक्सर सोचता, फिर उसका बाप कौन था? उसने अपनी मां से कई बार पूछा भी था, मगर सूज़ी हर बार टाल गयी.

सूज़ी उस दिन बहुत परेशान थी. उसका दिल घबरा रहा था. उसे पता नहीं चल रहा था कि घबराहट की क्या बात थी. उसके पास एक मरीज़ लाया गया जिसकी हालत अच्छी नहीं थी. सूज़ी को लगा जैसे बरसों के गर्द-गुबार के बावजूद चेहरा जाना-पहचाना हो. सूज़ी ने जब अस्पताल से मरीज़ के बारे में जानकारी हासिल की, तो उसे बहुत सारी बातों का इल्म हो गया था. उसे यक़ीन हो गया था कि ये वही शख़्स था जो उसे उस रात पब में मिला था और उसे मां बना गया था. वो रात भर उधेड़बुन में रही थी. आख़िरकार इस नतीजे पर पहुंची कि अपने बेटे को वो इस शख़्स के बारे में बता दे. सुब्ह उठ कर उसने धड़कते दिल से बेटे को बताया कि उसके असली बाप का पता चल गया है. बेटे का चेहरा ख़ुशी से तमतमा उठा. जब उसने तफ़्सील जानने की ख़्वाहिश की तो सूज़ी ने कहा, 'मेरे बेटे, तुम को अपने बाप से मिल कर ख़ुशी न होगी. मेरा मश्वरा बस ये होगा कि तुम अपनी ख़्वाहिश व जुस्तजु के लिए उससे एक बार ज़रूर मिल लो और फिर उसे हमेशा-हमेशा के लिए भूल जाओ.'

गोया नौकरी की शर्तों के ख़िलाफ़ ये बात थी, लेकिन उसने बेटे को बाप का पता लिखवाया; तो बेटा बिना वक़्त ज़ाए' किये उससे मिलने चला गया था. बाप की दयनीय हालत देख कर वो दुखी हुआ था, फिर भी उसने बाप को तसल्ली दी थी कि वो बहुत जल्द तंदुरुस्त हो जाएगा. अपने बाप से वो देर तक बातें करता रहा था.

जब वो अपने बाप से मिल कर वापस आया था, तो बहुत ख़ुश था. उसको अपनी पहचान मिल गयी थी. उसने मां को बताया था कि जो अतीत में हुआ उससे उसे कोई सरोकार नहीं. बाप ने गुनाह क़बूल कर लिया. उसे अपने किए पर पश्चाताप था और उसका प्रायश्चित करना चाहता था. उसने कहा था : Hate the sin but love the sinner. उसने मां को क़ायल कर लिया कि वो ये मुश्किल काम करेगा. वो अपने बाप को इस समाज का अच्छा इन्सान बना के रहेगा. उस लम्हे सूज़ी को अपना बेटा बहुत क़द्दावर, बहुत अज़ीम इन्सान् लगा. लंबे अर्से बाद सही, उसे अपनी मंज़िल तक पहुंचने का संगे-मील नज़र आने लगा था...अपने बेटे के रूप में. ❑

(माहनामा शाइर, बंबई, जनवरी 2009)

2, Birchtrees Croft, Birmingham. B 26 IEF (U.K.)

पड़ोसी

यूसुफ़ आरिफ़ी तर्जुमा : मंजू वैंकट

अभी-अभी दफ़्तर से थका-हारा लौटा हूँ और आरामदेह कुर्सी पर ढेर हो गया हूँ. बीवी शॉपिंग करने गयी है या अपनी हमजोलियों के दरमियान बैठी खिल-खिल हँस रही है. बच्चे जींस पैंट और टी-शर्ट पहन कर न जाने कहाँ-कहाँ फुदक रहे हैं. अब तो छोटे से देहात की बीस फ़िट सड़क भी एम.जी. रोड के नाम से मशहूर हो गयी है. थकन की वजह से मेरा सर घूम रहा है. घर की कोई चीज़ मेरे लिए अजनबी नहीं. वही उजली छत से लटकता ख़ामोश पंखा, शोकेस में रखे ख़ूबसूरत गुड्डे-गुड़िया, गुलदानों में सजा कर रखे मुख़्तलिफ़ रंगों वाले प्लास्टिक के फूल, सुनहरी हर्फ़ों में छपी 'आयतल-कुर्सी', संगेमरमर का ताजमहल और एक बेहद नफ़ीस ट्रे में सजे आम, अमरूद, सेब, अंगूर, नाशपाती, मौसंबी...'बेरस...बेरस.' मैं दाँत पीस कर उठ खड़ा होता हूँ और टी.वी. के उस ख़ामोश सेट को घूरने लगता हूँ, जिसके चेहरे पर मेरी बीवी ने पर्दा डाल रखा है. मैंने कई बार टोका है, 'टी.वी.' के चेहरे पर पर्दा डाल कर तुमने उसे मुसलमान बना डाला है. मगर बीवी हँस कर कहती है, 'पर्दा उलट कर स्विच ऑन करो, फिर देखो.' बीवी के भोलेपन पर मैं झल्लाये बग़ैर नहीं रह सकता कि एक दक़ियानूसी तबक़े का ख़ून अब भी उसकी रगों में दौड़ रहा है. मुझे अंदर-ही-अंदर एक बेइत्मीनानी-सी महसूस होती है कि बहुत कुछ मेरी मर्ज़ी के मुताबिक़ नहीं हो पा रहा है. मैं टेबल पर रखा अख़बार उठाता हूँ. लेकिन अख़बार हाथ में लेते हुए मुझे लगता है कि हॉकर का लाया हुआ अख़बार ज्यों-का-त्यों पड़ा है. किसी ने उसे खोला तक नहीं है. मैं माथे पर बल डालकर सोच रहा हूँ, आख़िर ये लोग पढ़ाई में दिलचस्पी क्यों नहीं लेते? पढ़ाई से ज़ेहन की गिरहें खुलती हैं और सोचने-समझने की राहें खुल जाती हैं.

'तुम लोगों ने कोर्स की किताबों के अलावा आज तक कोई किताब, रिसाला या अख़बार पढ़ने की कोशिश की है?'

मैंने कई बार अपने बच्चों से ये बात कभी नर्मी और कभी सख़्ती से पूछी है.

 शेष

लेकिन बच्चे अनजान बनकर नज़रों से यूँ ओझल हो जाते हैं जैसे उन्हें कुछ सुनायी ही न देता हो. मैं दाँत पीसने लगता हूँ तो मेरी बीवी टपक पड़ती है–'आप इन्हें किताबों का भूत बनकर मत डराइये.'

अब इन्हें कौन समझाये कि किताबों का पढ़ना इबादत का दरजा रखता है. 'इबादत' और 'पढ़ाई' जैसे लफ़्ज़ अब उनके लिए अजनबी बनते जा रहे हैं और मुझे मेरा वो कल्चर डूबता हुआ लग रहा है, जिसमें हम अज़ां की आवाज़ के साथ जगते थे. अब तो ऑडियो-वीडियो की इतनी धमाचौकड़ी मची रहती है कि मुझे अपनी साँसें भी लरज़ती हुई-सी लगती हैं.

दफ़्तर से थका-हारा लौटने के बाद आरामदेह कुर्सी पर ढेर होकर मैं हर रोज़ कुछ ऐसी ही हक़ीक़ी और ग़ैर-हक़ीक़ी बातें सोचता हुआ न जाने कहाँ-कहाँ भटकता रहता हूँ. लेकिन आज एक अजीब बात हो गयी...आप सोच रहे होंगे, बीवी बन संवर कर सरापा मुहब्बत बनी मेरा इंतिज़ार कर रही होगी. बिल्कुल नहीं!...या बच्चे पूरी दिलचस्पी के साथ सर झुकाए अपने होम वर्क में ग़र्क़ होंगे. ये मंज़र भी ग़लत हैं. सच तो ये है कि पूरे घर पर सन्नाटा मुसल्लत है और मैं यका-ओ-तनहा बैठा टेबल पर रखे उस लिफ़ाफ़े को हैरत और मसर्रत से देख रहा हूँ, जिस पर डाक के टिकट चस्पां हैं. मेरी हैरत इसलिए है कि एक अर्से के बाद मेरे नाम की कोई डाक आई हुई है. और मसर्रत इसलिए है कि बड़े दिनों के बाद किसी ने मुझे याद किया है. आख़िर किस ने मुझे याद किया होगा. मैं बड़ी बेसब्री के आलम में लिफ़ाफ़ा खोलने की कोशिश करता हूँ. मगर मुझे ये देखकर हैरत होती है कि लिफ़ाफ़ा पहले ही खोला जा चुका है और इसमें मेरे नाम का कोई ख़त नहीं है, सिर्फ़ एक तस्वीर है. बेहद कमज़ोर आदमी की तस्वीर....

'कौन हो तुम?' मैं बड़बड़ाता हूँ, क्योंकि पहली ही नज़र में तस्वीर का आदमी मुझसे पहचाना नहीं जाता. मैं ज़ेहन पर ज़ोर लगाकर चेहरे की बनावट, जिससे आदमी को पहचानने में मदद मिलती है, उभारने की कोशिश करता हूँ. मगर उसका चेहरा मुझे उस ख़िज़ां रसीदा पत्ते की तरह नज़र आता है जो शाख़ से टूट चुका है और जिसे तूफ़ानी हवा उड़ाये ले जा रही है. मैं थक-हार कर सोचता हूँ...आदमी अपने नाम और काम से पहचाना जाता है, भला तस्वीर से क्या पहचाना जायेगा! मगर इतना ज़रूर है कि ये तस्वीर किसी अजनबी ने नहीं, बल्कि किसी शनासा या दोस्त ने भेजी होगी. काश! ज़ालिम ने अपना नाम या पता कुछ तो लिख दिया होता. मैंने अपनी आँखें मूंद लीं और सोचने लगा शायद ये मेरा इम्तिहान लेना चाहता है या हैरत में मुब्तला करना चाहता है. मैंने यकलख़्त अपनी आँखें खोल दीं, तस्वीर की पुश्त पर लिखा था–'गुज़रे दिनों का एक पड़ोसी, जिसे तुम किताबों का कीड़ा कहते थे.'

'पड़ोसी!' मैं सख़्त मुताज्जुब हुआ.... गुज़रे दिनों में मैंने शायद तीन घर शिफ़्ट

किये होंगे. लेकिन किसी पड़ोसी से राह-ओ-रस्म नहीं बढ़ा सका कि आज पड़ोसियों से राह-ओ-रस्म बढ़ाने का रिवाज उठ चुका है.... मैंने एक नज़र तस्वीर की पुश्त पर लिखी तहरीर पर डाली.

'किताबों का कीड़ा!!'...मेरे ज़ेहन में आँधियाँ-सी चलने लगीं. अक्सर मेरी अम्मा मुझसे कहती थी, मैं लड़कपन में बहुत मुँहफट वाक़े' हुआ था... रिश्ते के छोटे-बड़े लोगों और आस-पास के पड़ोसियों की हरकतों की नक़ल उतारता, उन्हें किसी-न-किसी बेतुके नाम से पुकारता था. अब्बा मेरी उस नाज़ेबा हरकत पर मुझे बहुत डाँटते और फटकारते थे. लेकिन 'किताबों का कीड़ा' सुनकर न जाने क्यों मुस्कराये थे और बड़ी हसरत से कहा था...'ख़ुदा करे कि इस नाम से मैं तुम्हें पुकारने के लिए ज़िंदा रह सकूँ....'

अब्बा की बात सुनकर मैं उदास हो गया था और इस पड़ोसी से मिलने के मौक़े तलाश करता रहा था... मगर वो पड़ोसी जो न सिर्फ़ मेरा हमउम्र था, बल्कि उसके ख़दो ख़ाल मुझसे मिलते थे...यूँ गायब रहता था जैसे वो किसी दूसरी दुनिया में रहता, बसता हो और जिसे ढूँढ़ निकालना मुश्किल हो...उस दिन आस्मान अब्र-आलूद था. बाहर हल्की-हल्की फुवार पड़ रही थी...मेरे वालिद फ़सलों की आमदनी और ख़र्च के हिसाब-किताब में हद दरजा मसरूफ़ थे और गाहे-गाहे मेरी अम्मा से ख़रीफ़ की तुख़्मरेज़ी के बारे में सलाह-मश्वरा कर रहे थे कि मैं दबे क़दमों से बाहर निकल गया और उस पड़ोसी के घर जा पहुँचा. मैं जानता था, 1947 में उसके घर के पूरे अफ़राद को हमलावरों ने बड़ी बेदर्दी के साथ क़त्ल कर डाला था. देखने वाले उस घर को देखकर एक दहशत-सी महसूस करते थे. फिर कुछ दिनों बाद लोग उस घर को 'भूतों वाला घर' पुकारने लगे थे. उस घर की दीवारें जगह-जगह मुन्हदिम हो गयीं थीं...सद्र दरवाज़े में दरारें पड़ गयीं थीं. मैंने सदर दरवाज़े से अंदर झांक कर देखा, लंबे-चौड़े आंगन में ख़ुद-रौ-घास और जंगली पौधे उग आये थे और पूरे घर पर भयानक सन्नाटा छाया हुआ था. मैं कुछ देर तक दम साधे खड़ा रहा. फिर मैंने देखा, वो छोटे-छोटे क़दम उठाता हुआ मेरी ही जानिब आ रहा है...उसने अपनी आँखों पर मोटे शीशों की ऐनक लगा रखी थी और पूरा चेहरा किसी गहरी सोच में ग़र्क़ था. क़रीब पहुँचकर उसने मुझे सर-ता-पा देखा और हल्की-सी मुस्कराहट के साथ मुसाफ़हा के लिए हाथ बढ़ा दिये और धीरे से कहा-'किताबों का कीड़ा!'...मेरे पूरे बदन में एक झुरझुरी-सी आयी, फिर वो मेरा हाथ थामे ख़रामा-ख़रामा मुझे अपने साथ यूँ लिए जा रहा था जैसे कोई नायाबतरीन चीज़ मुझे दिखाना चाहता हो. हम आंगन की ख़ुद-रौ घास से बचते-बचाते दालान में दाख़िल हुए, तो उसने मेरा हाथ क़दरे मज़बूती से थाम लिया. दालान से गुज़रते हुए हम बड़े कमरे में पहुँच कर रुक गये... मैंने कमरे के चारों तरफ़ नज़रें दौड़ाईं-कमरा क्या था...पूरा कबाड़ख़ाना था...टूटा-फूटा फ़र्नीचर, तस्वीरों के टूटे हुए फ्रेम जिन में शायद उस के पुरखों की तस्वीरें रही होंगी. ग्रामोफ़ोन के रिकार्ड, एक दीवार से दूसरी दीवार तक

झूलती लकड़ी जिस पर लंबे-लंबे लबादे लटक रहे थे...बेशुमार टीन के संदूक़ और दीवारों से लगी लकड़ी की अलमारियाँ जिनके शीशे या तो टूटे हुए थे या इस क़दर ग़र्दआलूद थे कि उन के अंदर रखी हुई मोटी किताबें बमुश्किल नज़र आती थीं.

'ये तुम्हारा म्यूज़ियम है?' मैंने मज़ाक़•उड़ाने वाले अंदाज़ में उससे पूछा.

'नहीं ये मेरी विरासत है!' उसने निहायत संजीदगी से जवाब दिया. फिर उसने एक बड़ी-सी अलमारी खोली और निहायत एहतियात से दो जिल्दबंधी किताबें उठा लाया और कहा–'आबे हयात' का यह पहला एडिशन है, जिसे मौलवी मोहम्मद हुसैन आज़ाद ने अपने दस्तख़त कर के मेरे दादा हज़रत को भिजवाया था. ये मीर अमन देहलवी की 'बाग़ो-बहार' है जिसे जॉन गिलक्रिस्ट ने अपनी निगरानी में लंदन से छपवाया था...और इससे पहले वो आगे कुछ कहता, मैं तेज़-तेज़ क़दम उठाता कमरे के उस कोने में पहुँच गया, जहाँ सुरमई अंधेरा था.

उन अंधेरों में खोई हुई हर चीज़ आज बेकार महज़ बन कर रह गयी है. वो मेरी पुश्त पर खड़ा पछतावे से कह रहा था...'मैंने बहुत चाहा कि अहदे हाज़िर के लोगों के साथ उन खोई हुई चीज़ों का सिलसिला बना रहे. मगर हर्फ़ से ना-आशनाई ने पूरा सिलसिला ही काट डाला है.'

'तुम भी मुझे उन खोई हुई चीज़ों का एक हिस्सा दिखायी देते हो.' मैंने फिर उसका मज़ाक़ उड़ाना चाहा. मगर कुछ रुक कर पूछा. 'तुमने अपने बारे में क्या सोच रखा है? अहदे हाज़िर में जीने और आगे बढ़ने के लिए तुम्हारे पास क्या वसाइल हैं?'

'वसाइल!' वो बड़ी देर तक चुप रहा. मैं जानता था, वो उस टूटे-फूटे ढहते घर में अकेला ही जी रहा है. दूरदराज़ का कोई रिश्तेदार उस के पास आता भी है, तो शाम ढले ही उस घर से लौट जाता है.

'तुमने बताया नहीं कि जीने के लिए तुम्हारे पास क्या वसाइल हैं?' मैंने फिर एक बार पूछा.

'पूरे वसाइल रखने के बावजूद आज मेरी हालत हिंदुस्तान में उर्दू ज़बान जैसी है. जिस के ख़ानदान के अफ़राद लाखों की तादाद में मौजूद हैं, लेकिन जिसके ग़ैर महफ़ूज़ होने का ख़ौफ़ बढ़ता ही जा रहा है. आज तक...शायद...आज के बाद...शायद नयी सदी के पहले, दूसरे या तीसरे दहे के बाद...' वो जज़्बात की रौ में बहता हुआ मुसल्सल बोले जा रहा था. मगर मैं अचानक ही उसे बताये बग़ैर वहाँ से खिसक आया और घर पहुँच कर बहुत उदास और ख़ामोश-ख़ामोश सा रहा...मैं नहीं जानता था कि अपनी उम्र के किसी साथी का दुःख जब दिल में पैठ जाता है, तो कितनी बेचैनी और बेक़रारी उभरती है...!

'कुछ परेशान से लगते हो?' वालिद ने मुझे देख कर पूछा.

'हाँ!' मैंने धीरे से कहा. मेरे ज़ेहन में बेशुमार सवाल उठ रहे थे. मगर वालिद साहब अपना फ़ैसला सुनाते रहे कि अब मुझे शहर में रहना होगा...और मैं शहर जाने

से पहले न जाने उस से कितनी बार मिलता रहा! जब भी मिलता, वो पसीने में शराबोर एक-एक अलमारी खोलता और धूल-औ-गर्द में ख़ुद धूल से अटा होता हुआ अलमारी से एक-एक किताब निकालता...तारीख़े तब्रा, मश्का-ओ-तुल सल्लवात, सिरातुल हमीदुल, मज़ाकुल-आरेफ़ीन.

शहर पहुंचने के बाद कुछ दिनों तक वो मुझे याद आता रहा. फिर शहर की चकाचौंध रौशनियाँ, बारौनक़ सड़कें और धुले-धुलाए साफ़-सुथरे लोग और तालीमी सिलसिले...उन सब में मैं इस क़दर खो गया कि मेरी उम्र का एक बड़ा हिस्सा गुज़र गया. उजाड़ बस्ती ख़्वाबो-ख़याल बन गयी. कभी-कभार ये सुनने में आता रहा कि बस्ती के चारों तरफ़ खड़ी फ़सीलें ढह गयी हैं...हनुमानजी के जातरा में बहुत ज़्यादा हुजूम होने लगा है. हबीबुल्लाह के उर्स में क़व्वालियों की जगह फ़िल्मी गाने धूम मचाने लगे हैं और वो बूढ़े जिनके धुंधले चेहरे मुझे याद थे, एक-एक करके मिटते जा रहे हैं. और मेरा वो पड़ोसी और उसकी विरासत! बारहा न सही, कभी-कभार तो मैंने उसे याद किया ही होगा कि गुज़रे दिनों का वो पड़ोसी मेरे ज़ेहन में किसी तिलिस्माती किरदार की तरह बसा हुआ था...

अक्सर मेरी बीवी मुझे उस के ख़याल में खोया हुआ पाकर पूछ बैठती, उस पड़ोसी की क्या उम्र रही होगी?

'शायद मेरी उम्र से वो कुछ बड़ा ही रहा होगा. ये भी मुमकिन है, उसने बस्ती छोड़ दी होगी और मेरी तरह शहर चला आया होगा. और अगर शहर चला आया है, तो उसे ढूँढ़ने में आसानी होगी...मगर उसकी कोई तस्वीर... ?'

फ़ुर्सत के औक़ात में मैंने वो सारे लिफ़ाफ़े छान मारे जिन में हमने कुछ ऐसी तस्वीरें रख छोड़ी थीं, जो हमारी फ़ेमिली के एलबम से निकाल दी जाती रही थीं, ये तस्वीर...ये तस्वीर...ढेर सारी तस्वीरें मेरे ज़ेहन में गड्डमड्ड होती रहीं. अब शायद उस की आँखों पर मोटे शीशों वाली ऐनक लग गयी होगी...गाल पिचक गये होंगे...पेशानी पर माहोसाल की लकीरें उभर आयी होंगी...दिन-रात किताबों के पन्ने उलटते-उलटते उसकी कनपटी की रगें तड़पती होंगी कि वो किताबों का कीड़ा....

अचानक ही मुझे अपनी पुश्त पर किसी की गर्म-गर्म सांसों की गर्मी महसूस हुई...मैंने चौंक कर देखा, पुश्त पर मेरी बीवी खड़ी गहरी लंबी सांसें लेती हुई उस तस्वीर को एकटक घूरे जा रही थी जो मेरे सामने पड़ी थी.

'ये तस्वीर... ?' वो अचानक ही पूछ बैठी.

'गुज़रे दिनों में ये मेरा पड़ोसी था...' मैंने बड़े दुःख से जवाब दिया. जवाब सुनकर मेरी बीवी एकदम क़हक़हा लगा बैठी. फिर मेरा मज़ाक़ उड़ाती हुई बोली– 'अब तो आप से अपनी तस्वीर भी नहीं पहचानी जा रही है.' ❑

B-5, 4th क्रॉस, अनुभव नगर, नगरमची मेन रोड, बैंगलोर-560 072

ज़्यादा दिन नहीं हुए

डॉ. हसन मंज़र

सूबे के कहीं अंदर का रहने वाला हैवीवेट पुलिस अफ़सर जिसकी गरदन की सिलवटों और चेहरे के चेचक के गड्ढ़ों में पसीने से बह कर पाउडर जमा हो गया था, देर से सिगरेट से सिगरेट सुलगा कर पीये जा रहा था. उसके सिगरेट सबसे सस्ते ब्रांड के थे और इसलिए सबसे कड़क. स्कॉच की तरह उसे इन सिगरेटों पर फूटी कौड़ी भी ख़र्च नहीं करनी पड़ती थी. मेज़ पर आख़िरी चाय की प्याली रखी थी जिसकी तली में कड़क चाय की तलछट सूख गयी थी. पिछले एक घंटे से उसने किसी को अंदर नहीं बुलाया था. बाहर टेलीफ़ोन का मुनासिब जवाब उसका रिसेप्शनिस्ट दे रहा था.

ये, वो दिन थे जब जवान टीचरें और डॉक्टरनियां अपने बड़े शहरों से किसी नज़दीकी शहर या ऐसी आबादी में ट्रान्सफ़र किये जाने से डरती थीं जो बिजली, गैस या ऑयल कंपनी के काम से वुजूद में आयी हों. उन्हें कम तनख़्वाह पर या नौकरी खो कर, अपने शहर में बेकार बैठना मंज़ूर होता था, लेकिन उन ख़तरे की जगहों पर अपनी यौन-दुर्गत बनवाना नहीं.

ये, वो दिन थे, जब एक शरीफ़ और बेहैसियत शख़्स किसी ऐसे शख़्स से राड़ लेते हुए डरता था, जो किसी ख़ाने बंद न हो और अपनी नज़र उसकी मामूली मिल्कियत पर रखता हो. ऐसे में वो शरीफ़ आदमी कोई बेकार किताब, कॉपी या अख़बार रद्दी में बेचते हुए डरता था और कोई फ़ालतू काग़ज़ क्या सूखी घास तक घर से बाहर जलाते हुए कि कहीं उस पर मज़हबी किताब की बेहुरमती करने या उसके पन्ने जलाने का इल्ज़ाम न लग जाए.

ऐसे लोग जब किसी मुक़द्दमेबाज़ शख़्स को नाराज़ कर बैठते थे, तो अपने घर से बाहर मज़हबी बात करते डरते थे, क्योंकि उन पर पाक बातों और नामों की बेअदबी फ़ौरन साबित हो जाती थी और वो लासा लगे हुए परिंदे की तरह बेबस हो

कर रह जाते थे.

ये, वो दिन थे जब बहुत अमीर, जागीरदार, मिल मालिक और बिज़नेस टाईकून ख़ुद या उनके जवान लड़के हसीन, जवान नाचने वालियों के क़द्रदान होते थे. जो मिल जाए उसके कोठे पर रात गुज़ारते थे, उसे मालामाल कर देते थे और वफ़ादार रहने की क़सम लेते थे. फिर किसी दूसरे कोठे पर अगर उसकी बेवफ़ाई की भनक पड़ जाती थी, तो उनकी ख़ुद्दारी जाग उठती थी. बिना हिचक कन्सट्रेटेड तेज़ाब जो भी मिल जाए, ले कर उसका दरवाज़ा जा खड़खड़ाते थे और लड़की के खिले हुए स्वागती चेहरे पर उसका छपाका मार कर इत्मीनान से घर चले आते थे कि वो चेहरा अगर सिर्फ़ उनका नहीं रहा, तो किसी और के काम का भी कहां रहा! और वो ऐसे दिन थे–अख़बार, रिसाले और टेलीविज़न वाले उस आंखों, नाक और कानों से महरूम चेहरे को लाख पब्लिक को दिखाएं, वो दौलत में खेलने वाला शख़्स या उसका बेटा इलेक्शन में हिस्सा लेते थे और मुल्क से बाहर भी बेरोकटोक जाते थे.

ये वो दिन थे, जब निचले या निचले मध्य तबक़े के लोग अपने लड़कों को बाहर जाकर खेलने की इजाज़त देते हुए डरते थे और इबादतगाह में जाकर मज़हबी तालीम हासिल करने से भी. उन्हें बाज़ार से सौदा-सुल्फ़ लाने की इजाज़त देते हुए मांएं डरती थीं. जिन लड़कों के बाप लाचार थे, उन्हें काम पर लगवाते हुए भी उनके दिल कांपते थे. पर क्या करते! यही ज़िंदगी का ढब था. जब लड़का सुब्ह का गया शाम तक घर नहीं लौटता था, तो उनका ख़ौफ़ बढ़ जाता था. अगले दिन पुलिसवालों को लड़के का कुचला हुआ बदन किसी ऊंची फ़स्ल वाले खेत या उजाड़ मैदान में मिलता था. उसके ख़ूनलगे हुए कपड़े दिखा कर पुलिस वाले पूछते थे : ये तुम्हारा लड़का है? और उनकी तफ़्तीश बताती, किसी ऐसे मर्द का काम है जिसे लड़का पहचानता था, क्योंकि उसके सर पर कोई कुंद औज़ार मारा गया होता था या गले पर उंगलियों के गहरे निशान होते थे.

ये वो दिन थे जब मांएं किसी मर्द के घर पर न होने की वजह से छोटी उम्र की लड़कियों को जिन पर अभी बग़ैर मुंह ढंके बाहर निकलने पर पाबंदी घर वालों ने नहीं लगायी होती थी, पास की दुकान से कुछ लाने को भेजती हुई डरती थीं और इबादतगाह के आंगन में मज़हबी किताब पढ़ने दिल पर पत्थर रख कर भेजती थीं. ऐसी कुचली हुई रूह की लड़की का कुत्तों का खाया हुआ जिस्म दो तीन दिन बाद वहां मिलता जहां से उसके सड़ने की बू इबादतगाह या पुलिस स्टेशन की पुश्त से आने लगती. लोग कहते थे कि साथ हिफ़ाज़त करने वाला न हो तो एक साल से लेकर दस-बारह साल की लड़की तक का जिस्म किसी लम्हे रौंदा जा सकता था और उसके मां-बाप की रूह भी.

ये वो दिन थे, जब कुआंरी या शादीशुदा जवान औरतें सड़कों, बंद दरवाज़े के घरों, खेतों से ग़ायब हो जाती थीं. पुलिस थोड़ी आनाकानी के बाद रिपोर्ट लिख लेती

थी और ताकीद कर देती थी कि मिल जाए तो मां, बाप या शौहर पुलिस स्टेशन आ कर उन्हें आगाह करें. ऐसी औरतें कई हाथों के सितम और बदनों तले कुचली जाने के बाद एक मकान से दूसरे, एक शहर से दूसरे शहर ले जायी जाती थीं. अपनी विपदा सिर्फ़ वो सुनाती थीं जो भाग निकलने में कामयाब रहती थी और अपना कुचला हुआ बदन और कुचली हुई रूह ले कर अपने घर पहुंच जाती थीं. जो इतनी ख़ुशक़िस्मत नहीं होती थीं, उनके जिस्म नहर में बहते पाये जाते थे या सुराग़ मिल जाने पर, किसी जल्दी में खोदे हुए गढ़े में मिट्टी तले दबाए हुए.

जो एहसास रखते थे, उन्हें ताज्जुब होता था, ये कैसे मुमकिन है जिस चेहरे ने कभी किसी को इतना लुभाया हो, उसकी दुर्गत वही इन्सान इस तरह बनाए!

ये वो दिन थे जब ऐसे क़स्बे में, जिसमें सबसे बड़ा अगर किसी क़बीले का सरदार हो, सुनने में आता था, किसी मामूली हैसियत के घराने से नाराज़ हो जाने पर उसी दिन उस क़स्बे से बाहर जाने के तमाम रास्ते बंद कर दिये जाते थे और सज़ावार घराने की तमाम औरतों को उनके कपड़े ज़बरदस्ती उतार कर, क्योंकि ये काम वो ख़ुद नहीं करती थीं, क़स्बे के एकमात्र बाज़ार में लाया जाता था और नाचते हुए, उन्हें मर्दों के आगे-आगे चलना पड़ता था जिनके हाथ में कोड़े होते थे और बंदूकें. इधर-उधर खड़े हुए लोग बेहिस हो कर उन औरतों को पहली बार देखते थे, जिनके बड़े हो जाने के बाद उन्होंने उनके चेहरे तक नहीं देखे थे और आज उनका सब कुछ सामने होता था, सिवाय इसके कि उनके नाचने वाले हाथ सीने और पेट से नीचे के हिस्से को छुपाने की नाकाम कोशिश कर रहे होते थे. उनके लड़खड़ाते हुए पैर अलबत्ता कहा जा सकता था, नाच रहे हैं.

तेज़ाब फेंकने वालों की तरह नंगी औरतों के जुलूस निकालने वालों पर भी उन दिनों न इलेक्शन में हिस्सा लेने पर पाबंदी थी, न मुल्क से बाहर जाने पर जो अक्सर नापसन्दीदा सियासी रुख़ रखने वालों पर लगा करती थी.

जिन दिनों का ये ज़िक्र है, अक्सर जवान लड़कियां, बहुएं, भाभियां और इसी उम्र की दूसरी औरतें अगर ससुर, जेठ,देवर, बहनोई या ननदोई की बेहूदा हवस की पेशकश को रद्द कर बैठती थीं, तो चूंकि वो इस इश्क़ के वलवले का भांडा फोड़ सकती थीं, उन्हें बंदूक़, कुल्हाड़ी या तलवार से ख़ामोश कर दिया जाता था और यह एक जायज़ तरीक़ा घराने की इज़्ज़त की हिफ़ाज़त और इज़्ज़त की बहाली का समझा जाता था. दूसरे पुलिस अफ़सरों की तरह हमारे दोस्त पुलिस अफ़सर ने भी जो इस वक़्त सिगरेट से सिगरेट सुलगा कर पसीने में नहाया हुआ था, ऐसे बहुत-से केस अपने पेशे के दौरान में देखे थे और उन्हें उछाला नहीं था, क्योंकि स्वभाव से वो अगर अम्नपसंद नहीं, तो भी चैनपसंद आदमी था और इन वारदातों को इज़्ज़त की हिफ़ाज़त से ज़्यादा अहमियत नहीं देता था.

जिस ज़माने में वो एक जूनियर पुलिस अफ़सर था, उसके हलक़े में वो वाक़िआ भी हुआ था जिसमें एक बहुत बड़ा बाग़ दो पार्टियों के दरमियान विरोध और दुश्मनी का कारण बन गया था. जिस पार्टी ने उस पर क़ब्जा कर लिया था, उसे क़ब्ज़ा कर लेने में ये सहूलत रही थी कि बाग़ से लगा घर उसे मिला था. उसने क़ब्ज़े को पुख़्ता करने के लिए उस पर अपने माली बैठा रखे थे.

कमनसीबा दूसरी पार्टी वाले बाग़ में ज़रा परे रहते थे और इससे सिवा कुछ नहीं कर सकते थे कि जब तक उस मुक़द्दमे का फ़ैसला हो, उनका कोई न कोई आदमी उनके शातिर वकील की हिदायत के मुताबिक़ बाग़ में सुब्हशाम इस तरह चक्कर लगाया करे जैसे हवाख़ोरी को गया हो और साबित रहे कि उसने मिल्कियत से हाथ नहीं उठा लिया था.

पहली पार्टी का हैड मर चुका था और सरबराह उसकी बीवी थी. जवानी को ज़रा पीछे छोड़ आयी हुई, तंदुरुस्त, गदराई, ख़ूबसूरत औरत, घी की कलसी की तरह भरी हुई और पारे की तरह चंचल. जिस पार्टी के बच्चे कभी बाग़ में आकर खेल कर चले जाते थे, कभी एक बूढ़ा शाम को आकर कुछ देर बेंच पर बैठ कर चला जाता था या वो जवान जो किसी दूसरे शहर में काम करता था और इतवार के इतवार बाग़ में हाज़िरी दे जाता था. हां, उस पार्टी की जवान बहू जो तीस के लगभग थी, रोज़ सुब्ह हवाख़ोरी को वहां ज़रूर आती थी. वो भी हसीन थी और उसकी आमद इस तरह दूसरी पार्टी की सरबराह के दिल-दिमाग़ से होकर हड्डियों तक में उतर जाती थी जैसे बरछे की अनी.

आख़िर एक सुब्ह बड़ी उम्र की औरत ने अपने जवान बेटे को मुंह अंधेरे बाग़ में जा कर उस कोने में छिप रहने के लिए कहा जिसके पास से कोई सड़क तक नहीं गुज़रती थी. माली उस दिन छुट्टी पर थे.

मकान की ऊपर की मंज़िल से उस शातिर औरत ने दूसरे घर की जवान बहू को टहलते हुए उसी सुनसान कोने की तरफ़ जाते देखा. अगर दोनों में कोई धींगामुश्ती हुई थी, तो उसकी आवाज़ वहीं दब कर रह गयी थी. थोड़ी देर बाद उस ने जवान औरत को वहां से मुंह छिपाये लड़खड़ाते हुए जाते देखा, जैसे चोट खाई हुई नागिन हो.

बेटा जब अंदर आया तो औरत ने उसे नाश्ते से पहले जाकर नहाने के लिए कहा.

हमारे दोस्त पुलिस अफ़सर ने चोट खाई हुई, फूट-फूट कर रोती हुई औरत से कहा, 'तुम्हारा वकील उल्लू का पट्ठा है कि उसने ऐसा मश्वरा दिया था. देखो, इज़्ज़त का मुआमला है, रुस्वाई होगी. आख़िर को वो भी तुम्हारे रिश्तेदार हैं. चार बड़े एक जगह बैठ कर फ़ैसला कर लें. कोई होशियार वकील कर लो.'

ये वो दिन थे, जब एक लेडी डॉक्टर को जिसने किसी की जागीर के ऐसे इलाक़े

में अस्पताल की नौकरी को अपनी इस पहली बेअक़्ली में क़बूल कर लिया था कि वहां की देहाती औरतें और दूध पीते बच्चे इसलिए आए दिन मर रहे थे कि वहां कोई डॉक्टरनी नहीं थी.

और अपनी दूसरी बेअक़्ली में वहीं अस्पताल के कम्पाउंड में बने हुए दो कमरों के क्वार्टर में रहने भी चली गयी थी कि इमरजेंसी रात को भी आ जाती है.

फिर अपनी तीसरी बेअक़्ली में उसने वहां के सबसे बाअसर आदमी के दोस्ती के बढ़ाए हुए हाथ को भी झटक दिया था. फिर उसे रात को उसके क्वार्टर में उतर कर तीन, चार आदमियों ने बारी-बारी पामाल किया था.

इस केस को हमारे इसी दोस्त ने अपनी समझदारी से दबा दिया था और डॉक्टरनी चुपते-चुपाते अपने शौहर के साथ मुल्क से बाहर निकल गयी थी.

और जैसा कि मैं कह आया हूं, ये वो दिन थे जब एक से ले कर दस साल तक की बच्चियां यौन-पीड़ितों से उतनी ही महफ़ूज़ थीं जितना मां के हाथ से छूट कर मगरमच्छ पाउंड में गिर जाने वाला बच्चा मगरमच्छ से. कुछ मार दी जाती थीं, कुछ ज़ख़्मी हालत में अस्पताल ले जायी जाती थीं और आगे चल कर उनमें से कुछ बेकुसूर सिफ़लिस, गिन्नोरिया, एड्स का शिकार बतायी जाती थीं.

सोचने वाले दिमाग़ का आदमी सोचता ही रह जाता था, कैसे एक रोती हुई, ख़ौफ़ज़दा हस्ती किसी में सेक्स की लपक पैदा कर सकती है! लेकिन ये उन दिनों मुमकिन था, जब हर जज या पुलिस अफ़सर तक ख़ुद को मुकम्मल तौर से महफ़ूज़ नहीं कह सकता था.

लोग घर के बाहर भी लूट लिये जाते थे और अपने घरों में भी. ये वो दौर था जिसे कहा जा सकता है, बेमुहार! सेक्स मुल्क में प्लेग और हैज़े की तरह फैला हुआ था.

और उस वक़्त हमारा हैवीवेट पुलिस अफ़सर दोस्त जो सूबे के कहीं किसी कमआबाद ताल्लुक़े का रहने वाला था और अपनी मेहनत और समझदारी से इस मर्तबे को पहुंचा था कि उसके सद्र मक़ाम पर किसी निहायत आला ओहदे पर तैनात किये जाने की बड़ी संभावना थी, सिगरेट से सिगरेट सुलगा कर धुआं उड़ाए जा रहा था. कमरे की हवा अपनी शुद्धता खो चुकी थी और गर्मी से पसीने से पाउडर बह कर उसकी गरदन की सिलवटों में जमा हो गया था और चेचक के अपने पीछे छोड़े हुए गढ़ों में भी नज़र आ रहा था. कोई सुनता तो उसके मुंह से 'एनफ़ इज़ एनफ़' ये तीन लफ़्ज़ बार-बार मुंह से निकल रहे थे. गुस्से से उसका स्लेटी चेहरा स्याह हो गया था. उसकी क़मीज़ बग़लों में भी पसीने से तर थी और सीने पर भी. यही हाल पुश्त का भी होगा. सिगरेट की राख झाड़ते हुए हर बार उसके मुंह से निकलता था : 'एनफ़ इज़ एनफ़!'

बाहर एक जवानी से गुज़री हुई देहाती औरत, उसका बूढ़ा ससुर, उनके गांव का रिटायर्ड स्कूल मास्टर और वहीं की इबादतगाह का पेशवा बरामदे में पड़ी हुई बेंच पर बैठे थे. चारों पसीने में नहाए हुए थे, क्योंकि बरामदे की छत का सीमेंट, जिस तरह सरकारी इमारतों में हुआ करता है, जगह-जगह से उखड़ गया था और ठीक नहीं किया गया था. चारों के सर पर धूप पड़ रही थी. उधर का बरामदा इस्तेमाल में कम ही आता था, क्योंकि मेनरोड से दूसरी तरफ़ था और उधर खुलता था जिधर एक पुराना क़ब्रिस्तान था जिसमें अब लोग दफ़नाये नहीं जाते थे.हां कभी-कभार वहां से कुत्तों की खायी हुई बच्चों की लाशें मिलती थीं और पोस्टमार्टम के बाद उन्हें भी उनके वारिस कहीं और दफ़नाते थे. हमारे दोस्त पुलिस अफ़सर ने ही उन्हें उधर बिठवाया था, क्योंकि रिटायर्ड स्कूल मास्टर से भी उसकी पहचान थी और इबादतगाह के इमाम से भी. दोनों ही को वो जानता था कि इज़्ज़त व आबरू के मारे हुए हैं.. दोनों ने पैसों के लिए कभी हाथ-पांव नहीं मारे थे, वर्ना उनका गांव इस शहर से दूर नहीं था.

उसे उन दोनों की बात का यक़ीन था, इसलिए उस औरत और उसके ससुर का भी. पिछले बरामदे से न उनकी कहानी कोई ले उड़ता, न अख़बार के फ़ोटोग्राफ़र वहां आन धमकते.

उसे सबसे ज़्यादा हैरानी और गुस्सा इस बात पर था कि इसका ज़िक्र इस वारदात में ख़ल्क़े-ख़ुदा के सामने आया था. हरेक ने वारदात के बाद साठ के पेठे में पहुंचे हुए मगर ठांठे ज़मींदार को कहते सुना था, 'अरे साले कुछ नहीं बिगाड़ सकते, रंडी की औलाद! पुलिस अफ़सर फ़ुलां मेरा लंगोटिया यार है. उसे बनाने में मेरा हाथ है. मेरे गिलास से गिलास टकरा कर क्या, एक ही गिलास से पीने वाला दोस्त है.'

ये बातें दुरुस्त थीं, मगर जो कारनामा उस दोस्त ने अंज़ाम दिया था, वो सोच भी नहीं सकता था; कोई कर सकता है. उसने जानवरों की दुनिया में इसी तरह होते देखा था, क्योंकि वो ख़ुद गांव का रहने वाला है जहां जानवर अपनी आज़ादी में देखे जा सकते हैं...कि मगर यहां तो मुआमला आदमियों की दुनिया का था.

बूढ़े ने गुस्से से पागल होते हुए जवान बेटे को, उस औरत के जिस्म को सबके सामने रौंदने के लिए कहा था जिसके बेटे को किसी ने उसकी बेटी के पास बैठे बातें करते देखा था...बस इतना! लेकिन औरत का बेटा वहां से फ़ौरन ही फ़रार हो लिया था और उसकी मां और दादा नहीं बता रहे थे कि कहां छुपा है या कहां गया है!

औरत को नंगा करके पलंग से बांध दिया गया था. वो न चीख़ रही थी, न हाथ-पैर हिला सकती थी. उसका सर उसके मुंह से रस्सी गुज़ार कर इस तरह बांध दिया गया था कि उसे उठा कर अपने ऊपर हमला करने वाले को काट भी नहीं सकती थी. उससे कुछ दूर उसका ससुर बंधा पड़ा था, लेकिन उसकी आंखें उसकी बहू की तरफ़ रखी गयी थीं.

लोग सकते के आलम में इस हादसे को देख रहे थे जिस तरह फ़िल्म में जान जाते हैं कि अब रेप का सीन आएगा और स्क्रीन पर से आंखें नहीं उठाते. ज़मींदार का बेटा जब कोशिश के बावजूद बाप के हुक्म की तामील नहीं कर सका (हालांकि उसे दरिंदगी दिखाने का हुक्म था) और औरत के पास से शर्मिन्दा-सा चला आया, तो उसने उसके जिस्म को पेट के नीचे से देखा जैसे चली हुई बंदूक़ की नाल को बारूद की बू के लिए सूंघ रहा हो और बेटे को ज़ोर से धक्का देकर एक तरफ़ करते हुए ख़ुद पलंग की तरफ़ गया.

बूढ़े ससुर ने आंखें बंद कर लीं, क्योंकि इससे ज़्यादा वो और कुछ नहीं कर सकता था.

हमारे दोस्त पुलिस अफ़सर की नज़रों में जितनी बार वो सीन घूम जाता था कि जुर्म करने के बाद बूढ़ा रईस विजयी शान से सीढ़ियों के दो क़दम चढ़ कर अपने कमरे में जा रहा है, उसके मुंह से निकलता था : 'एनफ़ इज़ एनफ़!' और वो बेइख़्तियार सिगरेट की राख झाड़ता था. उसकी ज़िंदगी भर के अनुभवों ने उसके दिमाग़ व स्नायु-तंत्र को फ़ौलाद का नहीं कर दिया था कि वो आज भी न चटख़ते.

लेकिन जो उसके मुंह से बार-बार निकल रहा था, दुरुस्त नहीं था. उसे नहीं मालूम था कि इंसान अपनी पस्ती में समुद्र नहीं है जिसके बहुत अंदर गहराई के नीचे भी तह छिपी हुई है. अपनी गिरावट में इन्सान अथाह है. ❑

(बादबान, कराची, अक्टूबर-दिसंबर 08)

513-बी, यूनिट-8, लतीफ़ाबाद, हैदराबाद (सिंध)



भूरजी छिंपा

मानिक बच्छावत

कपड़ों की छपाई का काम
इस शहर की ख़ासियत रही है
जब से यह शहर बसा है
इस में कई तरह की कलाएं
विकसित होती रही हैं
छिंपा समाज यहां के घरों में
अपने छापे से तरह-तरह के कपड़े बनाते रहे हैं
भूरजी को छापने का बहुत
बड़ा इल्म विरासत में मिला था
उनके हाथ की छपी जाजमें
बड़े घरों के दीवानख़ानों की शोभा
आज भी बढ़ा रही हैं
वे अपने रंगों को ख़ुद बनाते थे और
छापे के गुटके जो काठ को खोद कर
उकेरे जाते थे उन में तरह-तरह के
डिजाइन होते थे कई-कई कपड़े
पांच-पांच रंगों में छापे जाते
उन्हें पांच बार छापना पड़ता था
छिंपों का काम रंगारों याने रंगरेज़ों से
बिल्कुल अलग होता था रंगारे सिर्फ़
ओढ़नियां डुपट्टे, पाग-पेचे रंगते और
कलफ़ देते थे कई-कई रंगारे बन्धेज़
का काम भी करते थे पर छिंपे
बुटिकाओं के ज़रिए सिर्फ़ छापते थे

आज भी इनके हाथ की छापी
जाजमें, सतरंजिया, झालरें, शामियाने, खेस, बिस्तर की खोलियां
बेड कवर लाजवाब होते हैं पर

अब बड़े घरों के ख़त्म हो जाने पर
उन्होंने साड़ियां छापने में महारत
हासिल कर ली है और उनके
हाथ की छपी साड़ियां देश भर में मशहूर हैं
भूरजी को यह कला विरासत में मिली थी
उनके रंग उनके साथ चले गए
कपड़ा फट जाता पर उनका रंग नहीं
छूटता था उनकी छापी
सूती जाजमें सतरंजिया कई अजबघरों
की शोभा बढ़ा रही हैं लोग उनकी
छपाई को आज भी याद करते हैं. ❑

20, बालमुकुन्द मक्कर रोड, कोलकाता-700000, मो. 09830411118

वो और वे

कैलाश दहिया

*वह लड़ता रहा जिनके ख़िलाफ़
जीवनभर, वे ही
घेरे हैं
उसकी मज़ार को–*

*वह क़ब्र में बैठा है
घुटनों में सर दे कर
डर के मारे फूट नहीं रहे बोल उसके–
ढोलक और मंजीरे पर झूमते क़व्वालों को देख
हैरान है वह
कोशिश कर रहा है पहचानने की उनको–वो
किस गली और मुहल्ले के हैं, वे
जो झूम रहे हैं
नाम ले-लेकर उसका–*

*बढ़ती जा रही है हैरानी उसकी
लोग उसे अल्लाह का दूत कह रहे हैं*

जो पूरी करता है सबकी इच्छाएं...
पर वह तो मरा था
भूखे पेट / ठंड से अकड़ने पर
अब तो क़ब्र में ही
झुरझरी आने लगी है उसे...

(रचनाकाल–4/5-9-08, वीर-शुक्र 10.30 रात्रि से 7.10 प्रातः)

सलामती का अंगूठा

तीन चेहरे
सदा एक से दिखे
रामू, बहादुर, भैया
दूसरों के दिये नाम के साथ
महीने की किसी तारीख़ को
एक मनीआर्डर फ़ार्म भरवाते
बच्चों को आशीर्वाद,
बड़ों को प्रणाम–
पत्नी के लिए, जल्द आने का वादा–...
आख़िर में,
अपनी सलामती का अंगूठा टेकते देखे गए.

(रचनाकाल–1995)

प्रार्थना ही की जा सकती है उसके लिए

अच्छा ही हुआ
तुमने दिखा दी अपनी जात
वर्ना मेरी ग़लतफ़हमी चलती
लंबे समय तक–

अब तुम जी सकते हो जी भरकर
अपनी जात को...

धीरे-धीरे
विक्षिप्त होता गया वो–

सबकी जात दिखाने के चक्कर में
दिख जाती उसकी जात
जो उसे मनुष्य होने से रोकती–

क्या कहा
वह भी बताता है–सरेआम
अपनी जात
और चमकाता है तलवार भी...
उसके लिए तो
प्रार्थना ही की जा सकती है केवल
वर्ना तो आ ही गए हैं
सारे पागलपन के लक्षण
उसमें– (रचनाकाल–22.8.08, शुक्रवार 7.27 सांय) ❑

मकान नं. 460, पॉकेट-III, पश्चिमपुरी, दिल्ली-63, मो. 09868214938

हताशा केवल मानव समाज में है

केशवशरण

पंछी दाने
मछलियां आटे की गोलियां
गाय रोटियां
बन्दर फल
और कुत्ते बोटियां निगल रहे हैं,
आजकल / इन्हीं के ग्रह
ठीक चल रहे हैं
चींटियां तक
पा रही हैं बताशा

हताशा केवल
मानव समाज में है
जहां संकटग्रस्त हर एक है
चाहे वह सेठ है
या ख़ाली पेट है

शेष

फिर बचा कौन

प्रबल झूठ के
प्रचंड प्रहारों से
तड़प रहा है
एक नाज़ुक सत्य

उसे अनदेखा करने में ही
भलाई है
यह सोच है
ऋषि-मुनियों की

उसे अनसुना करने में ही
अच्छा है
यह ख़याल है
वीर-योद्धाओं का

विशिष्ट जन
ख़ामोश हैं
सामान्यजन
मौन / फिर बचा कौन
जो पचड़े में पड़े! ❑

एस 2/564 सिकरौल, वाराणसी-221002, मो. 09415295137

आतंक के ख़िलाफ़...एक आवाज़

डॉ. नगमा जावेद

दहशतगर्दो!
बेगुनाहों के ख़ून से
तरबतर हैं तुम्हारे हाथ
ज़ालिमो!
छीन लिए तुमने कितनी
मासूम आँखों के ख़्वाब...

जंगल के दरिंदे हैरान व
गुमसुम खड़े हैं–
तुम्हारे नाखून तो
उनसे भी बड़े हैं...

इन्सानियत को तुमने
क़त्ल कर डाला / क्या माओं ने तुम्हारी
इसी दिन के लिए था / तुमको पाला?

कितने बच्चों की ज़ख़्मी निगाहें
बापों को अपने ढूंढ़ रही हैं
कितनी माँओं की ख़ाली गोदियां
सिसक-सिसक कर रो रही हैं...

शर्मसार मानवता है आज
शैतानियत का है तुम पर राज
ख़ुदा की इस ज़मीन पर
मत करो ग़ारतगरी
इन्सानियत की लाश है आज / बेकफ़न पड़ी

आतंकवादियो!
कौन-सा मज़हब है तुम्हारा? क्यों
बेक़ुसूर, निहत्थों को है तुमने / भून डाला...?

क़ातिलो!
ख़ून भरी मांगें / तुम्हें कोस रही हैं
भाइयों से अपने बिछुड़ी–
बहनों की आहें तुम्हें / कोस रही हैं

मत भूलो
एक दिन तुम्हें भी
ख़ुदा के रूबरू होना है
पूछेगा वह पालनहार
क्यों किया तुमने नरसंहार?

अंधेरों में भटकने वालो!
रौशनी को पहचानो...रौशनी को पहचानो
जिस रास्ते पर तुम

जा रहे हो, वो
हैवानियत का रास्ता है

सुनो मानवता की पुकार,
सुनो आदमियत की गुहार
पहचानो अपने आपको
पहचानो ख़ुदा को और कायनात को
अमन, शान्ति, स्नेह और भाईचारा
यही है ख़ुदा को भी प्यारा

ईश्वर को भी बंदा वही अज़ीज़ है
जिसके दिल में मुहब्बत का गीत है
जो हर किसी का मीत है

जागो कि इन्सान हो तुम
जागो, जागो, जागो ❑

रीडर, स्नातकोत्तर हिंदी विभाग, एस.एन.डी.टी. महिला विश्वविद्यालय, मुम्बई-20

फ़क़ीरों जैसा कलेजा लेकर जीना चाहता था

दिनकर कुमार

फ़क़ीरों जैसा कलेजा लेकर जीना चाहता था
सिक्कों की खनखनाहट भरी तुम्हारी दुनिया में
बग़ैर किसी बंधन के दौड़ना चाहता था हरियाली में
पेड़ों की क़तारों के बीच पहाड़ी पगडंडियों पर
खेतों में अमराई में या नदी के किनारे
मैं देखना चाहता था अलग ही नज़र से
पृथ्वी के सौन्दर्य को छूना चाहता था मानवीय गरिमा को

फ़क़ीरों जैसा कलेजा लेकर जीना चाहता था
सिक्कों की खनखनाहट भरी तुम्हारी दुनिया में
घड़ी की सूई का अनुशासन माने बग़ैर ही
मैं मौसम की बांहों में बांहें डालकर चलना चाहता था
चिड़ियों की बोली की नक़ल उतारना चाहता था
सड़क के बच्चों के साथ खेलना चाहता था

थोड़ी मुस्कराहट थोड़ी तसल्ली थोड़ी उम्मीद थोड़े सपने
मैं बांटना चाहता था ज़रूरतमंदों के बीच

फ़क़ीरों जैसा कलेजा लेकर जीना चाहता था
सिक्कों की खनखनाहट भरी तुम्हारी दुनिया में
मैं हवा की तरह या पानी की तरह रंग की तरह
या धूप की तरह अपनी मिट्टी में बिखर जाना चाहता था
बदले में मैं देना चाहता था अपनी कल्पना अपनी ऊर्जा अपने
हृदय का इन्द्रधनुष तुम्हारी दुनिया को सुंदर बनाने के लिए ❑

रोहिणी भवन, श्रीनगर बाईलेन नं. 2, दिसपुर, गुवाहाटी-781005 (असम)

इतिहास

कृष्णकुमार यादव



इतिहास बँटने लगा है
छोटे-छोटे टुकड़ों में / यह हमारा इतिहास,
यह तुम्हारा इतिहास

इतिहास की किताबों में
नहीं दिखती अब
एकता-अखंडता की भावना
इतिहास पुनर्लेखन की आड़ में
बस उभारा जाता है
जाति, धर्म, क्षेत्र का इतिहास

इतिहास के पन्नों पर
गिद्ध-नज़र गड़ाये
हर वर्ग के मठाधीश
इनका वश चले तो
लटका दें अपनी तख़्ती
हर महापुरुष के चेहरे पर
और क़ैद कर दें उन्हें
अपनी तिजौरी में / कि, कहीं वे
दल-बदल न कर लें

विज्ञापनों का गोरखधंधा

विज्ञापनों ने ढँक दिया है / सभी बुराइयों को
हर रोज़ चढ़ जाती हैं उन पर
कुछ नामी-गिरामी चेहरों की परतें
फिर क्या फ़र्क़ पड़ता है / उसमें कीड़े हों या कीटनाशक
या चिल्लाये कोई सुनीता नारायण
पर इन नन्हे बच्चों को कौन समझाये
विज्ञापनों के पीछे छुपे पैसे का सच
बच्चे तो सिर्फ़ टी.वी. और बड़े परदे
पर देखे उस अंकल को ही पहचानते हैं
ज़िद करते हैं / उस सामान को घर लाने की
बच्चे की ज़िद के आगे / माँ-बाप मजबूर हैं
ऐसे ही चलता है / विज्ञापनों का गोरखधंधा ❑

भारतीय डाक सेवा, वरिष्ठ डाक अधीक्षक, कानपुर मण्डल, कानपुर-208001

चीनी खिलौना



जसबीर चावला

'फ़ायर! फ़ायर!!'
शब्द झड़ रहे हैं घोड़ा दबाते
और साथ ही मशीनगन की
ढग...ढग ढग...ढग
गोलियाँ बरसातीं आवाज़ें भी झड़ रही हैं
और तो और नाक की सीध
ख़ूब लाल रंग की तीखी / ख़ून-सी रौशनी भी
निशाने भेद रही है!
यह सब चीन कर रहा है
बच्चे के हाथ उसका खिलौना है;
माँ कार में घुलटाई पड़ी है ❑

123/1, सेक्टर-55, चंडीगढ़-160055

शेष

कुछ ताज़ा पाकिस्तानी नज़्में

हवा अपना रास्ता बनाती है

किश्वर नाहीद

जो लोग ज़िंदगी में अकेले रहते हैं
उनकी मौत को बहुत-से तमाशाई मिल जाते हैं
बहुत-सी झूठी यादें बयान करने को
ता'ल्लुक़ की बीमार साअतों को ज़िंदा करने को (घड़ियों)
मज्हूल अदावतों को उछालने को (नामालूम)
नामालूम रिश्तों को बयान करने को

जो लोग ज़िंदगी में अकेले रहते हैं
उनके साथ कितने रिश्ते जुड़े होते हैं
दीवारों के, जो सहारा बनती हैं
सायों के जिन के साथ क़दम मिलाते
चलने का शौक़ होता है
आबनूसी कुर्सियों के
जो पनाह देती हैं, आसूदगी का एहसास देती हैं,
क़हवे की छलकती ख़ुशबू से
जो लंबे-लंबे सांस लेने की आसूदगी बख़्शती है
किताबों के बे अंत ता'बीरों से (परिभाषाओं)
जहां चेहरे बिगड़ते और बनते रहते हैं

जो लोग ज़िंदगी में अकेले रहते हैं
वो गोद ले लेते हैं
कभी उदासी को, कभी क़हक़हों को
कभी बोलतीं-फुदकती चिड़ियों को
कभी ज़मीन पे सर उठाए घास की
एक एक पत्ती को
कभी उफ़ुक़ पे जागते, लहलहाते (क्षितिज)

शेष

क़िरमिज़ी रंगों को (लाल)
कभी बेआवाज़ दस्तकों को
मुस्कराने के लिए,
कमरे को आरास्ता करने के लिए (सजावट)

जो लोग ज़िंदगी में अकेले रहते हैं
कभी वो ख़ुद को बूढ़ा समझने लगते हैं
और कभी ख़ुदा
नमाज़ें उनको और भी तनहा कर देती हैं
दुआएं, आंसुओं में ढल जाती हैं
बातें, उसके लिए आईने की ज़रूरत नहीं
दिल मुक़ाबिल आ कर खड़ा हो जाता है
कश्ती, समंदर, पहाड़
सबका अकेलापन शिकवा करता है
हमारी मौत को तो तमाशाई भी नहीं मिलते हैं!

नामालूम मर्सिया

जिन मुल्कों में इन्साफ़ तहे-तेग़ हो जाए
उनको तरक़्क़ीयाफ़्ता ममालिक क्या कहते हैं! (देशों)
वहशी और जाहिल,
जो तरक़्क़ीयाफ़्ता भी वहशी और जाहिल हो जाएं
अमेरिका और ब्रितानिया की तरह
उनको क्या कहते हैं?
'दीवाना ब कारे ख़्वेश हुश्यार!'
पाकिस्तान जैसे मुल्क
कि जहां मुन्सिफ़ भी क़ैदी हो जाएं
कि जहां जरनैल अपने ही क़बीले के ख़िलाफ़ बातें करे
कि जहां मौलवी गरदनें काट कर ख़ुश हों
कि जहां बच्चियों को बुर्क़ों में लपेट दिया जाए
ऐसे मुल्क को क्या नाम दिया जाता है?
बेज़मीरी के बेदाम गुलाम
अवाम नहीं, हुक्काम! ❑

लाइफ़ सपोर्ट

इशरत आफ़रीन

अभी कुछ ही बरस की बात है
इक आलमी दिन के हवाले से
किसी माहौलियाती मस्अले पर तब्सिरा करते हुए (समीक्षा)
नन्हे ने ये मुझ से कहा था,
ख़बर है आपको अम्मी
फ़ज़ा में किस क़दर आलूदगी है? (प्रदूषण)
किस क़दर नासाज़गारी है
कि इसमें तितलियों और जुगनुओं का सांस लेना
दिन-ब-दिन दुश्वार होता जा रहा है
अब अगर बच्चे यूं ही तितली पकड़ कर उनके पर नोचा किये
मा'दूम हो जाएगी इनकी नस्ल (नष्ट)
और महरूम हो जाएंगे हम कितने ही रंगों से

मैं इस तोजीया पर हैरान थी (ध्यानाकर्षण)
और सोचती थी
ये मग़रिब भी अजब दुनिया है (पश्चिम)
मक्तब में अभी पहला क़दम है मेरे बच्चे का (स्कूल)
मगर ये आगही, ये फ़िक्र की पर्वाज़ का आलम! (ज्ञान)

घड़ी भर को मिरा दिल ख़ौफ़, हैरत और मसर्रत से छलक उठा
कभी ये ध्यान आता
बचपने के हाथ अगर तितली की बेताबी से हमरिश्ता नहीं होंगे
तो बचपन कैसे मानेगा?
भला वो बचपना ही क्या
कि जिसकी उंगलियों पर तितलियां अपनी निशानी तक नहीं छोड़ें
कभी हैरान होती थी
कि ये छोटा-सा बच्चा सोच में मुझ से भी आगे है
ख़ुशी ये थी कि इसको हुस्ने-फ़ितरत से मुहब्बत है

हमारे हां ये मौज़ूआत (विषय)
कब तालीम व तर्बीयत का हिस्सा थे

बला से जुगनुओं की जान जाए
तितलियों के पर जलें
या फ़ाख़्ताएं ख़ून में लोटें
ये बातें दर्सगाहों और निसाबों में कहां दोहरायी जाती थीं (पाठशाला) (कोर्स)
हमें तो सोमनाथ
और राजा दाहिर
और पानीपत के मैदानों ही से फ़ुर्सत नहीं थी
यहां माहौलियाती मस्अलों से किस तरह आगाह रखा जा रहा है

जभी हाथों में उसके आज
तितली देख कर मुझ को हंसी आयी
कि आख़िर बचपना फिर बचपना ठहरा
ज़रा-सा दिल दुखा तितली की नन्ही जान के ग़म में
मगर अगले ही लम्हे उसने ये मुज़्दा सुनाया (शुभ सूचना)
कि अम्मी
अब फ़ज़ा में इस क़दर नासाज़गारी है
ज़्यादा दिन यहां पर खोल कर तितली नहीं उड़ती
ये नन्ही-सी परी फूलों के बदले
बिस्तरे-ख़ाशाक पर बेहाल सांसें गिन रही थी (कूड़ा-करकट)
जभी मैंने ये सोचा
कि इस तितली को आख़िर मर ही जाना है
तो आएं आप हम मिल कर मदद इतनी करें इसकी
कि इसको ज़िंदगी की क़ैद से आज़ाद कर दें
यही तकलीफ़ का इसकी मुदावा है (इलाज)

ये कह कर रेफ़्रिजेरेटर का ख़ाना उसने खोला
और मुझे तितली थमा दी
मुझे इक बार जैसे झुरझुरी आयी
लगा तितली की पथराई हुई आंखों की ख़ुनकी (ठंडक)
मेरे पोरों में उतरती जा रही है

अपाहिज, नीममुर्दा-सी वो तितली
मैंने घबरा कर हवा में छोड़ दी लेकिन...
न जाने क्यों मिरी पो'रों से वो ख़ुनकी नहीं जाती ❑

मानी

नून.मीम. दानिश

इससे क्या फ़र्क़ पड़ता है
कि हमें क़त्ल कर दिया जाएगा
हमारी लाशों पर गिद्ध मंडलाएंगे
या हमारा सर
हमारे जिस्म से
अलेहदा कर दिया जाएगा
बाज़ू कहीं फेंक दिये जाएंगे
और टांगें कहीं और

हमारी आंखें!
ख़ला में घूरती रह जाएंगी (शून्य)
शायद इस ख़्वाब को
जो क़त्ल होने से पहले वो देख रही थीं
हमारा ज़ेहन
आने वाले दिन के
इस धुंधले तसव्वुर में गुम होगा
जिसका नक़्शा
अभी उसने मुकम्मल नहीं किया था
हमारा दिल
सर, बाज़ू और टांगों से मावरा जिस्म में धड़क रहा होगा (परे)
बिल्कुल उसी तरह
जिस तरह तुम्हारे आने से पहले
तुम्हारे इंतिज़ार में
धड़कता रहता है
हमें क्या पता था
कि ख़्वाब और ज़मीन की
क़ीमत चुकानी पड़ती है

कमज़ोर के लिए ज़िंदगी के मा'नी
ताक़तवर के मा'नी से
मुख़्तलिफ़ हैं

परस्पाई*

एक मरे हुए आदमी की हिकायत
एक ज़िंदा आदमी की हिकायत से
मुख़्तलिफ़ होती है
तने हुए तार पर चलने का हुनर
हमने बचपन में सीखा था
लेकिन सारी ज़िंदगी
तने हुए तार पर नहीं गुज़ारी जा सकती है ❑

* (पीछे हटना, हार)

मरजीना की वापसी

हुसैन मज्रूह

नए बग़दाद की बेआर्ज़ू गलियों में
पहरेदार चौकस हैं
हवा ख़ामोश है और दूधिया, बेसूदया शम्एं
फ़िराक़े-सुब्ह में ऐसे पिघलती हैं
कि शबज़ादों को अंदाज़ा नहीं होता
फ़स्लें ढह गयीं कब से
कि अपने आप से बेज़ार शहरों में
सिवाय चोर दरवाज़ों के
दरवाज़ा नहीं होता

नए बग़दाद के बेफ़ैज़ मौसम में (अनुदार)
अलीबाबा का मस्कन है (ठिकाना)
जहां हुलिये बदल कर मेहरबां मेहमान आए हैं
फ़ज़ा में ख़ौफ़ तारी है
पज़ीराई की शादाबी से मालामाल मरजीना (स्वीकार्यता)
फ़ना फिलहाल मरजीना
का रक़्से-मर्ग जारी है (मृत्यु-नृत्य)
न जाने किस की बारी है! ❑

असली शैतान

अतिया दाऊद

समंदर पार ख़याली शैतान को
पत्थर मारने वाले मेरे हमवतन
क्यों ख़ामोश हो जाते हैं
जब मेरे अंदर दोज़ख़ के अंगारे दहकाने वाला शैतान
तमग़ों से सजाई हुई सेज पर
हरी चादर की ठंडी छांव में
मुल्क के वाली की गोद में (सरपरस्त)
क़ानून और इंसानियत उसके ग़ुलाम हैं
जो सर झुकाए हुए उसके दरबार में
वफ़ादारी का झूला झूल रहे हैं
कहते हैं ये नसीब में ही लिखा हुआ था
दर्द, रुस्वाई और बेबसी की मिट्टी से औरत का वुजूद बना
तकब्बुर, तशद्दुद और हवस की मिट्टी से मर्द बना (दर्प) (हिंसा)
इस मां ने ये कब सोचा था
कि इसके बदन से निकल कर जीवन हासिल करने वाला इंसान
किसी और औरत के ऐसे ही बदन को 'नागासाकी' बना देगा
तेरे हासिलात का अंत क्या है?
ये जवाब तो शिमर ही दे सकता है! (हज़्रत हुसेन का क़ातिल, ज़ालिम)
मैं अगर अदालत के दरवाज़े पर दस्तक भी देती हूं
तो इन्साफ़ के ठेकेदारों के पास क्या रखा है?
वो मेरे हाथ में थमा देते हैं
कुछ खिलौने, टॉफ़ियां और यूरोप या अमेरिका का वीज़ा! ❑

(तमाम नज़्में : दुनियाज़ाद, कराची से : शुमारा 22, जुलाई 08)

जुदाई

एम. रहमान बज़्मी

मैं अपने कमरे में तनहा बैठा
उदास हर शै' को तक रहा हूँ
तुम्हारा पैकर उभर रहा है!
तो चाहता हूँ
क़दम बढ़ा कर मैं तुम को छू लूँ
तुम्हारे जूड़े में फूल टांकू
फिर अपनी नन्ही-सी प्यारी दीबा को भर के बाँहों में ख़ूब चुमूँ
फ़ज़ा में ख़ुशबू है
साज़-ए-एहसास बज उठा है
तुम्हारा पैकर उभर रहा है!
ये जूही बेले
दरख़्त, पौधे, ये फूल सारे हैं
राना ज़ेबा के जैसे दिलकश
मेरी नज़र में
तुम्हारा पैकर उभर रहा है!
तमाम कमरा महक रहा है
वुजूद मेरा सिमट रहा है
उदास बिस्तर बिलख रहा है
किताब से जी उचट चुका है
यही तसव्वुर है मुझ पे हावी
तुम्हारा पैकर उभर रहा है
कुछ ऐसा लगता है आज मुझको
हज़ारों सदियों का एक दिन है
शदीद एहसास की तपिश में
सुलग रहा हूँ
मैं ग़म के शोलों में
जल रहा हूँ ❑

होम्यो शिफ़ाख़ाना, रहमत कॉलोनी, डोरंडा, रांची-834 002



सबा बिल्ग्रामी

अहद-ए-माज़ी[1] का सुकूँ शाम का मंज़र महके
नींद की सेज पे इक ख़्वाब बराबर महके

ज़हर बन जाए न बिखरे हुए लम्हों का सराब[2]
ज़िन्दगी मुझ में सिमट जा कि मिरा घर महके

मैं कि इक फूल हूँ काग़ज़ का महक उठूँगा
तू जो इक बार मिरे सामने आकर महके

घर की दहलीज़ से ता ख़ल्वत-ए-जाँ[3] आए बहार
जब मिरे ज़ेहन में वो फूल सा पैकर[4] महके

अपनी तख़्लीक़ में हम फूल पिरोएं यारो
ताकि ख़ुशबू से ज़माने का मुक़द्दर महके

कल मिरा फ़न मिरे माज़ी की ज़मानत होगा
आज की शब तो मिरी फ़िक्र का दफ़्तर महके

दाद-ए-तकमील-ए-वफ़ा पा तुझको सरे दार[5] मिली
इसलिए क्यों न 'सबा' तेरा मुक़द्दर महके

---

1. अतीत, 2. मरीचिका, 3. एकाकीपन, 4. आकृति, 5. सूली पर

मैं सभी के दर्द समझ सकूँ, मैं सभी के काम कुछ आ सकूँ
मुझे इतना हौसला दे ख़ुदा तिरी अंजुमन में सजा सकूँ

वो बड़ा ही नेक ख़साल है वो बड़ा ही शोख़ जमाल है
है उसी के नूर से दो जहाँ मैं उसी का साथ निभा सकूँ

ज़रा मुझको अपने क़रीब कर मुझे इतना इल्म नसीब कर
जिसे नफ़रतें न बुझा सकें मैं चराग़ ऐसा जला सकूँ

मैं हूँ रेगज़ार-सा तश्ना लब कोई चश्मा मुझ में उतार दे
मिरे ज़ेह्न-ओ-दिल को सुकून दे मैं अदब की प्यास बुझा सकूँ

कहीं बाँकपन, कहीं सादगी, कहीं दिलबरी, कहीं ज़िन्दगी
हैं उसी के दम से ये ज़ीनतें मैं उसे (?) भी कैसे भुला सकूँ

कभी अपने दिल की किताब में कहीं मेरा नाम तलाश कर
मैं तिरे करम से कही हुई ये ग़ज़ल भी सबको सुना सकूँ

जो न साथ मेरा निभा सका मुझे उससे कुछ भी गिला नहीं
मुझे सिर्फ़ इतना यक़ीन दे मैं सभी के दिल में समा सकूँ

तू मुहब्बतों का शुऊर है तू इबादतों का सुरूर है
तू 'सबा' के दिल को दे वुस्अतें मैं सभी को अपना बना सकूँ

3149, सेक्टर-1, टाइप-III, व्हीकल एस्टेट, जबलपुर-482009

डॉ. मीना नक़वी



कोई तो हो जो मेरी रूह में उतर जाये
अन्धेरी रात के पैकर में नूर भर जाये

वो अपने साये में मुझको छुपा के रख लेगा
शजर से धूप की चादर ज़रा उतर जाये

मैं उसके कुर्ब की ख़ुशबू को भर लूँ दामन में
गुज़रते वक़्त से कह दो ज़रा ठहर जाये

तेरी वफ़ा से मुझे ऐसे ख़ौफ़ आता है
कि आईना न कहीं टूट कर बिखर जाये

एक आर्ज़ू जो लबों पर दुआ की सूरत है
वो अपनी ज़ात को बस मेरे नाम कर जाये

बहे जो अश्क तो नासूर हो गयीं आँखें
तुम्हारा लम्स मिले तो ये ज़ख़्म भर जाये

भरम उजालों का 'मीना' कुछ इस तरह टूटे
चराग़े आख़रे-शब से कहो कि मर जाये

मीना नर्सिंग होम, अग़वानपुर, मुरादाबाद-244502, फ़ोन : 0591-2511211

विजय बहादुर सिंह



पहल हवा की अजब ढंग से हुई होगी
धुआँ उठा है कहीं आग भी लगी होगी

इन्क़िलाब जंगल का बात राज़ की है ये
पत्तियों ने फूलों से किस तरह से की होगी

जड़ तने की चुप्पी से शाख़ हिल गई होगी
टहनियों की शह पाकर पहली लौ उठी होगी

आस्माँ के कानों तक किस तरह गई आख़िर
ये ख़बर फ़ज़ाओं को बुलबुलों ने दी होगी

अब सहर जो आएगी जो भी और जैसी भी
इम्तिहान की होगी इत्मीनान की होगी

29, निराला नगर, दुष्यन्त मार्ग, भोपाल

नामी सागरी

शामे-तनहाई के ये मन्ज़र नहीं देखे जाते
क्या करें, ए दिले-मुज़्तर[1] नहीं देखे जाते

दामे-इफ़्लास[2] के ये घर नहीं देखे जाते
अपनी आँखों से ये मन्ज़र नहीं देखे जाते

तश्ना लब[3] को हो सहरा में, पानी की तलाश
तब साक़ी, मीना[4] और साग़र नहीं देखे जाते

जिस को देखो, है उसे आरज़ी[5] दौलत का गुरूर
अब कोई दिल के तवनगर[6] नहीं देखे जाते

दिल की आह फ़लक[7] में भी समा जाती है
कोई दीवार कोई दर नहीं देखे जाते

मौजे-तूफ़ाँ से कश्ती का तसादुम[8] 'नामी'
अहले-साहिल से ये मंज़र नहीं देखे जाते

---

1. बेचैन, 2. कंगालग्रस्त, 3. प्यासे होंठ, 4. शराब का जग, 5. अस्थायी, 6. अमीर, 7. आकाश, 8. टकराव.

कटनी

अनिल पठानकोटी

याद का सूरज तो ढलता ही नहीं
शख़्स वो दिल से निकलता ही नहीं

मस्अला कश्मीर का अपनी जगह
बीच का रस्ता निकलता ही नहीं

इस क़दर छाई है बस्ती में नमी
इक दिया तक भी तो जलता ही नहीं

दोस्तो मेरा मुक़द्दर रंगे-गुल
मेरे चेहरे पर तो मलता ही नहीं

शाइरी का फ़न बिना तहज़ीब के
ग़ैर-मुमकिन और फलता ही नहीं

तल्ख़ लहजा चाहिए बस इन दिनों
मुस्करा कर काम चलता ही नहीं

ढीठ, सरकश, तेज़ चूहा देखिये
ज़हर की गोली निगलता ही नहीं

उफ़ ये तनहाई, अकेलापन 'अनिल'
क्या करूं ये वक़्त टलता ही नहीं

गार्डन कॉलोनी, समीप रेणुका मंदिर, मिशन रोड, पठानकोट-145001
फ़ोन: 0186-2233290



कौतूहल

नदीम अहमद 'नदीम'

गर्दन घुटनों में डाले हुए और हाथ आगे पसारे हुए बिना बोले भीख मांगते भिखारी को ज़िन्दगी में पहली बार देखा तो कौतूहल हुआ. मैं काफ़ी देर तक उसे देखता रहा. मेरे इस तरह उसे देखने पर मेरे एक परिचित ने आवाज़ देकर अपने पास बुलाया, बोले, 'इसे जानते हो?'

मैंने कहा, 'नहीं.' उनके सवाल ने मेरे कौतूहल को और बढ़ा दिया, बोले, 'किसी ज़माने में इसका शहर के प्रतिष्ठित लोगों में शुमार होता था. वक़्त की मार ने इसे इस हालत में पहुंचा है. गर्दन नीची इसलिए रखताहै कि कहीं कोई पहचान कर शर्म के मारे इसे भीख देना भी गवारा नहीं करे.'

दे ताली!

तीनों लड़कियां अनजाने ख़ौफ़ से ग्रसित थीं. बेमन से अपने-अपने काम में व्यस्त. घर में ख़ामोशी पसरी है. उनकी दादी घर में चहल क़दमी कर रही है. बार-बार फ़ोन की तरफ़ जाती है. कभी अलमारी खोलकर नोटों की गड्डियों को हाथ में लेती है और वापस रख देतीं है. उनकी बेचैनी को समझा जा सकता है. तीन पोतियों की दादी की इकलौती बहू अस्पताल में भर्ती है.

किसी भी वक़्त बच्चा होने की ख़बर आ सकती है. हमेशा की तरह इस बार भी पोते की उम्मीद में जश्न बनाने की तैयारियां कर रखी है. लड़कियां जानती है कि इस बार भी लड़की हुई, तो दादी कई दिनों तक अवसाद में रहेगी. भोजन नहीं करेगी.

और लड़का हुआ तो...

लड़कियां ये सोचकर ही सिहर उठीं, चारों मकानों का अकेला मालिक होगा. उनका बचा-खुचा वुजूद भी मिट जायेगा.

अचानक फ़ोन की घंटी बजी और दादी जड़वत हो गई, उधर दूसरे कमरे में लड़कियां एक दूसरे को कह रही थीं, 'दे ताली'!'

नाम

अकरम और साहिल दोनों सगे भाई हैं. दोनों व्यापार करते हैं. दोनों के व्यापारिक प्रतिष्ठान एक ही बाज़ार में हैं. अकरम बहुत कम समय में बहुत बड़ा व्यापारी बन गया. उसका नाम बाज़ार के प्रतिष्ठित व्यापारियों में शामिल है. साहिल की प्रगति सामान्य है.

बस, यूं समझिए कि काम चलता है. कभी-कभी ख़ाली बैठे उसकी नज़र अपने भाई के प्रतिष्ठान की ओर अनायास चली जाती है. जहां बड़े-बड़े अक्षरों में बोर्ड टंगा है 'श्रीराम ट्रेडिंग कम्पनी'. ❑

ज़ैनब कॉटेज, बड़ी कर्बला मार्ग, चौखूंटी, बीकानेर-01, मो. 9414283829

एक कैंसर ऐसा भी

ज्ञानदेव मुकेश

डॉक्टरों ने उसे बताया कि इस संसार में वह मात्र छह माह का मेहमान है. उसे कैंसर हुआ है. उसे अपने जीवन का मोह नहीं था. फ़िक्र थी, तो पत्नी और बच्चों की. उसने सोचा, यदि वह छह माह के भीतर अपने सारे दायित्वों को पूरा कर दे, तो पत्नी और बच्चों को उसकी मौत का शायद ज़्यादा दुःख न हो.

उसने गांव की सारी जायदाद का निबटारा कर दिया. हाथ में आए पैसों को उसने पत्नी के नाम फ़िक्स्ड कर दिया. उसने पत्नी को अन्य सारे पैसों और काग़ज़ात का विस्तृत ब्यौरा दे दिया. उसने पत्नी को अच्छी तरह समझा दिया कि किन पैसों को कब और कहां ख़र्च करना सबसे ज़्यादा फ़ायदेमंद होता है. उसने पत्नी को हर जगह नॉमिनी बना दिया. उसने बच्चों की पढ़ाई का भी पूरा बन्दोबस्त कर दिया. बच्चे पढ़ाई पूरी करने के बाद कौन-सी नौकरी करें, यह भी तय-तमान हुआ. उसने बेटी की शादी के लिए पर्याप्त पैसे उसी के नाम पर जमा कर दिए. बिजली, पानी, गैस आदि चीज़ों के कनेक्शन पत्नी के नाम पर हो गए. पत्नी और बच्चे समझ नहीं पा रहे थे कि वह ऐसा क्यों कर रहा है.

धीरे-धीरे उसने स्वयं को बेहद ग़ैर-ज़रूरी बना लिया और घर के हाशिए पर आ गया. उसे यक़ीन हो गया कि वह सड़क किनारे का पौधा हो गया है, जो कभी कुचल कर नष्ट भी हो जाए, तो किसी को ख़बर तक न हो.

पांच माह बीत चुके थे. एक दिन वह अपने रोग की स्थिति जानने के लिए डॉक्टर से मिला. डॉक्टर ने फिर से मुआयना किया और उसकी आशा के विपरीत एक ख़ुशख़बरी दे दी, 'आपकी रिपोर्ट ग़लत थी. आपको कुछ नहीं हुआ है. आप

लम्बी ज़िन्दगी जिएंगे.'

कुछ ख़ुश, तो कुछ दुविधाग्रस्त होकर वह घर लौटा. महत्त्वपूर्ण होने की उसकी इच्छा जाग चुकी थी. मगर उसे अपना घर पराया-सा लगा. पत्नी और बच्चे उसे वह महत्त्व नहीं दे रहे ते, जो वह पहले पाता था. ज़िन्दगी लौट चुकी थी, मगर अहम होने की डोर टूट चुकी थी. यह एक नया कैंसर था!

अपनी सवारी

बाढ़ के क़हर ने गांव के लोगों को अपने घरों से बेदख़ल कर दिया था. सभी भागते-भागते एक छोटे से रेलवे स्टेशन पर आकर जमा हो गए थे. वहां से भी दूर ले जाने के लिए रेलवे द्वारा मुफ़्त ट्रेन का इंतिज़ाम किया गया था. सभी बेसब्री से उस दुःख निवारणी ट्रेन की राह ताक रहे थे. प्लेटफ़ॉर्म पर भारी चिल्ल-पों मची हुई थी. अफ़रा-तफ़री का माहौल था. जब भी 'धड़...धड़...' की आवाज़ सुनाई देने जैसा कुछ महसूस होता, तो लोग प्लेटफ़ॉर्म के किनारे खड़े होकर पटरियों के सहारे, अपनी दृष्टि दूर तक ले जाते. मगर उनकी ट्रेन दूर-दूर तक कहीं नज़र नहीं आती.

काफ़ी समय बीत गया. लोग अधीर हुए जा रहे थे. तभी 'धड़...धड़...गड़... गड़...' की आवाज़ ख़ूब स्पष्ट सुनाई देने लगी. बाढ़ पीड़ितों को पूरा यक़ीन हो गया कि उनकी गाड़ी आख़िर आ ही चली. वे प्लेटफ़ॉर्म के किनारे खड़े होकर धक्का-मुक्की करने लगे. तभी कुछ बच्चे आस्मान की ओर देखते हुए चिल्लाने लगे, 'देखो, देखो! अपनी सवारी ऊपर से आ रही है.'

आस्मान में सेना का एक बड़ा हेलिकॉप्टर आकाश-गर्जना करता हुआ उड़ा जा रहा था. औरतें और बूढ़े भी आंखों में आशा की ज्योति जलाकर, उस गगनभेदी को देखने लगे. वह हेलिकॉप्टर दो-चार चक्कर लगाने के बाद अंतर्ध्यान हो गया. मगर लोगों की निगाहें ऊपर की ऊपर टंगी रहीं.

तभी उन्हें लगा कोई चीज़ 'धड़...धड़...' करती हुई उनके समीप आ खड़ी हुई है. लोगों ने अपनी चुंधियाई हुई आँखों को मलकर सामने का दृश्य देखा तो पाया कि उनकी चिर-प्रतीक्षित ट्रेन सामने लगी है. पुरानी-मटमैली और खंडहर-सी ट्रेन में ज़बरदस्त भीड़ थी. तिल रखने तक की भी जगह नहीं थी.

यह देख सभी लोग सकते में आ गए. तभी एक भलेमानस ने ज़ोर से कहा, 'ऊपर के ख़्वाब मत देखो. अपनी सवारी सामने है. चलो, आगे बढ़ो.'

और बाढ़ पीड़ितों का रेला उस खंडहर की भीड़ का हिस्सा बनने के लिए ऐड़ी-चोटी एक करने लगा. ❑

श्री आई. एन. मल्लिक का मकान, स्टेट बैंक के पास, शिवाजी कॉलोनी, पूर्णिया-301

खीज

डॉ. पूरन सिंह

अचानक 3/69 ए की दूसरी मंज़िल पर बम फटा था. आनन-फ़ानन में पुलिस, मीडिया और सत्ताधारी एवं विपक्षी महारथी पहुँच गए थे. दो नवयुवकों की लाशों के चीथड़े उड़ गए थे और रक्तरंजित दीवारें हाहाकार कर रही थीं. पुलिस आवश्यक प्रमाण इकट्ठे करने में जुटी हुई थी और नेता लोग अपनी राजनीति करने से बाज़ नहीं आ रहे थे....

'यह हरकत-उल-मुजाहिदीन के लोग थे, जो किसी बड़ी घटना को अंजाम देना चाहते थे. भगवान का शुक्र है...अपनी मौत स्वयं ही मारे गए!' उस क्षेत्र के नेता और शासन में मंत्री देवेश्वर जी ने चीख़ कर कहा.

'मुझे लगता है ये अल-जिहाद था, या फिर जमात-उल-फ़िक्रा के लोग थे...ख़ैर, किसी भी आतंकवादी संगठन के लोग हों...शहर तबाही से बच गया!...वैसे ये शासन और पुलिस के निकम्मेपन की जीती-जागती मिसाल है.' सत्ता के विपक्षी नेता कहां चूकने वाले थे!

पुलिस ने उस फ़्लोर के मालिक को आतंकवादियों को शरण देने के आरोप में गिरफ़्तार कर लिया था.

लेकिन...इन सब से अलग, हवलदार जीतराम ने आतंकवादियों की चिथड़ा-चिथड़ा हुई लाशों में से एक बांह खोज ली थी, जिस पर मशीन से गुदे बजरंगबली हनुमान पर्वत उठाए नज़र आ रहे थे.

सुबूत

मीना बाज़ार शहर का सबसे व्यस्त मार्केट है. उस दिन जब वहां बम धमाका हुआ, तो चारों ओर हाहाकार मच गया था. लाशों के अम्बार लग गये थे. घायलों की कराहों से सीना फटा जा रहा था. पुलिस और सामाजिक संगठन व्यवस्था में लगे थे कि अचानक पुलिस को एक व्यक्ति की लाश मिल गई थी. पुलिस ने उसे आतंकवादी घोषित कर दिया था, क्योंकि उसके गले में चांदी का एक तावीज़ मिला, था जिस पर 786 लिखा था. पुलिस अपनी खोज पर दृढ़ थी. आतंकवादी होने के लिए इससे बड़ा और क्या सुबूत होगा!

उधर आतंकवादी बम विस्फोट कर मारे गये लोगों की संख्या पर अट्टाहास कर रहे थे.

आशीर्वाद

ठाकुर दलवीर सिंह जब मंदिर गए, तो अपने साथ रामदीन चमार को भी ले गये थे. ठाकुर साहब आगे-आगे चल रहे थे और रामदीन उनके पीछे-पीछे. दरअस्ल, रामदीन ठाकुर साहब का अंगरक्षक था. बलिष्ठ शरीर और मन में निष्ठा एवं कर्तव्य के प्रति सजग, रामदीन पर ठाकुर साहब का अटूट विश्वास था.

मंदिर में पहुँचकर ठाकुर साहब ने भगवान के आगे हाथ जोड़े और याचना की, 'भगवान मेरे पास सब कुछ है, मुझे एक बेटा दे दो.'

'दिया!' भगवान ने ठाकुर साहब की याचना सुन ली थी.

ठाकुर साहब ने भगवान से प्रार्थना की, 'भगवान मुझे इस बार के चुनाव में एम.एल.ए. बनने का आशीर्वाद दे दो.'

'दिया!' भगवान ने हमेशा अपने भक्तों को आशीर्वाद दिया है, तो आज क्यों नहीं देते! इस तरह ठाकुर साहब ने भगवान से जो भी मांगा, उन्होंने दिया. तभी ठाकुर साहब को अपने चहेते रामदीन की याद आई, 'अरे रामदीन, सुन, तू भी भगवान से कुछ मांग ले.'

'मालिक...' रामदीन सकुचाने लगा था, क्योंकि मंदिर में पुजारी बैठा था. वैसे भी रामदीन को मंदिर में अंदर जाने की अनुमति नहीं थी. तभी ठाकुर साहब ने सारी बात समझते हुए कहा था, 'कोई बात नहीं रामदीन, मैं हूँ तेरे साथ, पुजारी जी कुछ नहीं कहेंगे. तू चिंता मत कर!'

ठाकुर साहब का आशीर्वाद पाकर रामदीन का सीना चौड़ा हो गया था. रामदीन हाथ जोड़कर भगवान से प्रार्थना करने लगा था, 'भगवान मुझे ठाकुर साहब की गुलामी से मुक्त कर दो.'

'जो आशीर्वाद हम तुम्हें नहीं दे सकते वह क्यों मांगते हो, मूर्ख.' भगवान ने रामदीन चमार को आशीर्वाद नहीं दिया. हाँ, इतना ज़रूर हुआ था कि भगवान के ही सामने ठाकुर साहब ने रामदीन को लातों-घूसों से मारना शुरू कर दिया था. मारते समय वे सिर्फ़ इतना ही कह पा रहे थे, 'धोखेबाज़, हमसे छल करता है. हम तो सह भी लेते, लेकिन भगवान...अरे! वह तो हमेशा न्याय करते हैं. किसे क्या आशीर्वाद देना है, भगवान अच्छी तरह जानते हैं.'

ठाकुर साहब की इन बातों को सुनकर भगवान प्रसन्न मुद्रा में दिखाई दे रहे थे और रामदीन तड़प रहा था. ❑

240, बाबा फ़रीदपुरी, वेस्ट पटेल नगर, नयी दिल्ली

सपूत

डॉ. योगेन्द्रनाथ शुक्ल

...यदि दोस्तों के साथ नये साल की पार्टी मनाने जाता हूँ तो दो सौ रुपये चाहिए. माँ दिन-भर पेटीकोट सिलती है तब कहीं सौ रुपये कमाती है. पिताजी को भी इन दिनों मेरी पढ़ाई का ख़र्च बढ़ जाने के कारण पार्ट-टाइम काम करना पड़ रहा है. उनसे रुपये माँगने की हिम्मत मैं कैसे कर सकता हूँ? यदि दोस्तों को मना करूँगा, तो वे मेरा मज़ाक़ उड़ाएँगे, क्या करूँ?...

'बेटा! क्या आज कॉलेज नहीं जाओगे?' माँ की आवाज़ सुनकर वह चौंक गया.

'माँ! मैं आज कॉलेज नहीं जाऊँगा,' उसके मुँह से एकाएक निकल पड़ा.

उसकी बात पिता ने सुन ली. वे उसे समझाने लगे, 'बेटा! कॉलेज नहीं जाने से तुम्हारा नुक़्सान होगा. कहीं ऐसा न हो कि कोई महत्त्वपूर्ण टॉपिक आज छूट जाए!'

'पिताजी! आज कोई भी क्लास में नहीं बैठेगा, सभी पिक्चर जाएँगे और होटल में पार्टी मनाएँगे, इसीलिए मैंने सोचा कि मैं कॉलेज न जाऊँ!' उसकी बात सुनकर दोनों भौचक रह गए.

'बेटा! तुम बहुत समझदार हो! तुम जो कहोगे, मैं घर पर ही बनाकर तुम्हें खिला दूँगी.' यह कहते हुए माँ भाव-विभोर हो गई.

'बेटा! अच्छा हुआ, तुम आज कॉलेज नहीं गए. तुम्हारे कारण शाम को मुझे भी कोई बढ़िया पकवान खाने को मिल जाएगा.' पिता ने कहा. ☐

390, सुदामा नगर, इंदौर (म.प्र.)

अपना मन

रत्नेश कुमार

अपने इलाक़े में मंदिर बनता देखा. अपना मन प्रसन्न नहीं हुआ. अपने इलाक़े में मस्जिद बनती देखी. अपना दिल ख़ुश नहीं हुआ. अपने इलाक़े में गिरजाघर बनता देखा. हृदय आनंदित नहीं हुआ. अपने इलाक़े में एक झोपड़ी बनती देखी. अपना मन जीवन से भर गया.

गर्म शब्द

घर और दुकान की प्रायः प्रतिदिन मुलाक़ात होती है. घर के मन में क्या आया कि उसने दुकान से पूछ लिया, 'दुनिया का सबसे गर्म शब्द?'

शेष

दुकान अविलंब बोली, 'पैसा'.
घर ने मुस्कराकर कहा, 'नहीं प्रेम.' ❑

द्वारा डॉलफिन कॉम्युनिकेशंस, राजगढ़ रोड, गुवाहाटी-781003 (असम)

चौथा खंभा

डॉ. ज्ञानवती दीक्षित

दावत का इंतज़ाम शानदार था. तरह-तरह के कबाब मुर्ग़ मुसल्लम, पनीर टिक्का, टमाटर गोश्त, फ़िशकरी, तंदूरी चिकन, तरह-तरह की देशी-विदेशी शराब, सिगरेट का धुआं उड़ाते प्रफुल्लित चेहरे. पीने वाले भी मस्ती में थे और पिलाने वाले भी. दोनों पक्ष कोई कोरकसर छोड़ना नहीं चाहते थे. स्थानीय पत्रकारों का झुंड खाने-पीने पर बेतरह टूट पड़ रहा था. ऑरकेस्ट्रा की धुन पर एक बारबाला अत्यन्त संक्षिप्त कपड़ों में थिरक रही थी. लोगों की दिलचस्पी पहने हुए कपड़ों में कम और खुली जगहों में अधिक दिख रही थी. हर व्यक्ति मगन था. दौलत की गर्मी का एहसास उनके चेहरों से छन-छन कर आ रहा था. दावत का आयोजन स्थानीय नेताजी के छोटे भाई की तरफ़ से था. क़िस्सा कुछ यूं था कि भाई साहब की कुछ डग्गामार जीपें नैमिष से सीतापुर तक चलती थीं. एक जीप के नीचे आकर एक बच्चे की मौत हो गयी थी. मां-बाप गरीब थे. धौंसपट्टी देकर उन्हें ख़ामोश कर दिया गया था. पुलिस का हफ़्ता बंधा हुआ था. केस दर्ज हुआ—अज्ञात वाहन की टक्कर से बच्चे की मौत. बड़े भाई सत्तारूढ़ दल के विधायक रह चुके थे. एरिया में उनकी तूती बोलती थी. किसकी मजाल थी, कान हिलाए. क़स्बे की हरियाली लकड़ी की टालों पर क़त्ल हो रही थी. एक-आध ईमानदार अफसर आये भी तो ट्रांसफर करवा दिए गये. तीर्थ स्थान था. बाहरी वाहनों से गुंडा टैक्स वसूला जाता. नेताजी अरबपति बनने की ओर अग्रसर थे. इलाक़े के मोस्टवांटेड अपराधी नेताजी के आशियाने में पनाह पाते थे. प्रशासन चुप था और धृतराष्ट्र की भूमिका निभा रहा था. लोकतंत्र के चौथे खंभे का ही डर था. सो यह दावत उसी की ख़ुशी में दी जा रही थी. दारू की रंगीन बोतलें ख़ाली हो रही थीं. पीने वाले सुरूर में झूम रहे थे.

—मजा आ गया. क्या शराब है?...साला रोज एक एक्सीडेंट हुआ करे.

—क्या बात कही है यार... बिल्कुल दिल की जबान पर!

अगले दिन अख़बार तो छपे, पर ग़रीब के बच्चे का कहीं ज़िक्र नहीं था. ❑

169, प्रतिभा निवास, रोटी गोदाम, सीतापुर

विस्फोट

यासीनख़ां 'यासीन'

तीन दिन पूरे शहर में क़त्लो-ग़ारत और कुछ दिन तनावपूर्ण हालात के बाद कर्फ़्यू हटा लिया गया. आनन-फ़ानन में नेताजी ने मीटिंग बुलाई, जिसमें शहर के वो सम्मानित लोग थे, जिन्हें सेवा और सियासत की गहरी समझ थी. उन्होंने एक मत होकर मनोचिकित्सकों की एक टीम को हालात का जायज़ा लेकर, रिपोर्ट एक सप्ताह बाद पेश करने का आदेश दिया.

चार दिन बाद स्थिति कुछ सामान्य होने के बाद टीम ने दंगा-पीड़ित कैम्प का दौरा करने का निश्चय किया. वहाँ जाकर जैसे ही उन्होंने गाड़ी को रोका, वैसे ही पन्द्रह-बीस लड़के गाड़ी को घेर कर खड़े हो गये. चिकित्सकों ने उनसे कई सवाल पूछे और हर एक के अपने-अपने जवाब थे.

उस भीड़ से हट कर एक किशोर गुमसुम खड़ा था, जिस के मैले-कुचैले कपड़े और उलझे हुए बाल उसकी ग़रीबी और परेशानी की कहानी कह रहे थे.

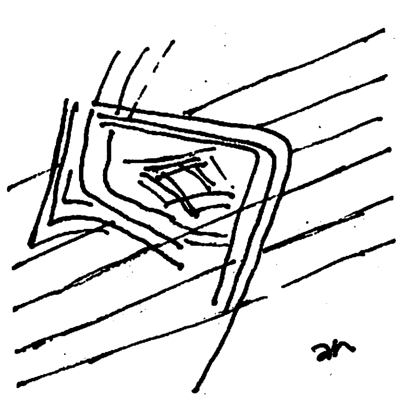
एक चिकित्सक की नज़र उस पर पड़ी और उसने कहा, 'इधर आओ बेटे.'

लड़का सहमा हुआ उनके सामने आकर खड़ा हो गया. उन्होंने रंगों का एक चार्ट लड़के को दिखा कर पूछा, 'बेटे तुम्हें कौन सा रंग पसन्द है.'

उस लड़के ने बिना कुछ देर लगाये सफ़ेद रंग पर उंगली रख दी यह देख कर चिकित्सक ने आश्चर्यजनक ख़ुशी के साथ अपने साथी से कहा, 'इतनी ख़राब स्थिति के बाद भी नई नस्ल से अम्न की उम्मीद है.' चिकित्सक ने मुस्कुराते हुए लड़के से पूछा, 'बेटे तुमने सफ़ेद रंग ही क्यों पसन्द किया?'

लड़के ने जवाब दिया, 'सर! आटे का रंग भी सफ़ेद होता है ना!' ❑

सिवाँची गेट, मूलियों की चौकी, जोधपुर



रूह की मुंडेर पर : सबा आहिस्ता चल!

मर्ग़ूब अली

बर्फ़ीली हवा में सड़कों पर सिवाए ज़रूरतमंद लोगों के किसी और का फिरना ऐसा लगता है, जैसे हम उस लुत्फ़ से नामानूस (अपरिचित) हैं; जो उन लम्हों से लोग कशीद (ग्रहण) कर लेते हैं या फिर हम ही वो लोग हैं जिनके पास मौसम के इशारों को समझने की सलाहियत नहीं है. मौसम के इशारे हमःवक़्त कुछ न कुछ कहते रहते हैं. अब ये आप जानें कि इन इशारों का मतलब कितना और कैसा, किस पर खुलता है!

चूंकि बर्फ़ीली हवा मौसम का ख़ास तुहफ़ा होती है और बारह महीने उससे लुत्फ़अंदोज़ नहीं हुआ जा सकता, इसलिए मौसम बदलने पर ये बहुत याद आती है, बल्कि कभी-कभी ऐसी बचकाना ख़्वाहिश भी उभरती है कि इस हवा को डिब्बे में बंद कर लिया जाए और जब उमस का मौसम आए, और पसीने के क़तरे ख़ुद से उलझने पर मजबूर कर दें, तब ये हवा हासिल की जाए. कुछ ऐसी ही कैफ़ियत से मैं उस वक़्त दो-चार हुआ, जब मुझे रूपा सबा की किताब 'रूह की मुंडेर पर' तब्सिरे के लिए पढ़ने को मिली.

किताबें वाक़ई अगर रूह की मुंडेर पर बैठ कर लिखी जाएं, तो उनके लफ़्ज़ों के परिंदे दूर-दूर तक और इतनी ऊंचाई और गहराई तक पर्वाज़ करने की ताक़त रखते हैं कि दूसरी जिस छतरी पर भी ये जब उतरें और सुस्ताने के लिए बैठें, तो वो रूह की मुंडेर पर बैठे दूसरे परिंदों को अपनी पर्वाज़ अपने सफ़र की रूदाद उन्हीं जज़्बों की अक्कासी (प्रतिबिंबित) और सुथरे लफ़्ज़ों में सुना सकते हैं, जिन लफ़्ज़ों के बयान के परों की फड़फड़ाहट पढ़ने वालों को बेचैन कर दे. मुख़्तसर ये कि :

मेरी सोच तो हर दम
तेरे घर में रहती है
है तिरी जो तनहाई
उसको सुनती रहती है

चुपके, चुपके जाने क्या
उस से कहती रहती है (सफ़्हा : 29)

ये मौसम सर्द बर्फ़ीला
मुझे समझा नहीं पाया
तिरी फ़ुर्क़त ने लेकिन (बिछोह)
मुझ को समझाया
कि होता क्या है आख़िर
इस ठिठुरती कपकपाती शब से रिश्ता
एक धीरे से सुलगती आग का (सफ़्हा : 31)

पुकारो मिरा नाम तुम
ख़ुशी से मैं बन जाऊं
ख़ुशबू, सरापा
ज़ीना, ज़ीना तुम में
उतरती चली जाऊं (सफ़्हा : 36)

जलती, बुझती वो चमक
मुझ पे ढाती है क़हर
मेरा मोबाइल जब
होता है साइलेंट पर (सफ़्हा : 56)

इसी रेशमी लहजे और गुलाब-लफ़्ज़ों की कारफ़र्माई इसी हुज़्नीया (दुखांत) लय में ग़ज़लों के अश्आर की सीढ़ियाँ सजा रही है :

आंखों में आफ़ताब तो आंचल में माहताब (चांद)
आई है रात किस के यहां दिन गुज़ार के (सफ़्हा : 26)

छीन कर ख़ुशबुएं वो मुझ से कहे
ए सबा! तुझ को शादमां देखूं (ख़ुश) – 34

मैं सितारों की छांव पिछले पहर
ओस बन कर वो मुझ में धुलता है (सफ़्हा : 49)

फूल, पत्तों पे क़तरे शबनम के
कैसी कारीगरी है क़ुदरत की (सफ़्हा : 63)

कह चुकी हूं ख़ुदा मैं उसको 'सबा'
उससे नफ़रत करूं तो कैसे करूं (सफ़्हा : 63)

नस्री नज़्में भी इसी अहवाल का आईना हैं :

आज मैंने अपनी हसरतों
का गला घोंटा है
अपने अंदर की राधा को मार डाला है
ख़ूब रोई हूं मैं
मगर निखर, निखर गई हूं इतनी
कि 'मीरा' हो गई हूं *(सफ़्हा : 134)*

ज़ेरे-तब्सिरा मज्मूए में इतने 'मौसम' मगर एक ही मौसम है. रूपा 'सबा' ने अपनी बात में लिखा है : 'तक़रीबन सोलह बरस की उम्र में कुछ दिल ने कहा, कुछ भी नहीं की-सी झिलमिल कैफ़ियत में जब लफ़्ज़ पहली बार सूने सफ़ेद काग़ज़ों पर उतरने लगे और इज़्हार का ज़रीआ बनने लगे, तो वो बेसाख़्ता उर्दू ज़बान में ढलने लगे, लिखने के अनासिर (तत्त्व) तो मुझ में थे ही, मेरी मां डॉक्टर गुरबचनकौर नन्दा एक मारूफ़ अदीबा हैं, उर्दू से उनकी ज़ेहनी हमआहंगी (परस्परता) और ग़ैर मामूली दिलचस्पी ने उन्हें बाक़ाइदा रस्मुलख़त सीखने पर उकसाया और वो उसमें कामयाब भी हो गयीं.' उनके यहां लफ़्ज़ों का इस्ते'माल उनकी इसी दिलचस्पी का मर्हूने-मिन्नत (कृतज्ञ) है. किसी मश्शाक़ (दक्ष) संगतराश की तरह वो जज़्बों के जिस मुजस्समे को तराश कर देखने (पढ़ने) वालों के सामने पेश करती हैं, तो देखने वाला उसके बाहरी हुस्न से ही मुतास्सिर नहीं होता, बल्कि उसकी रूह तक में झांक लेता है. इनके शे'रों पर मर्हूमा परवीन शाकिर का साया बक़ौले डॉ. बशीर बद्र महसूस किया जा सकता है, मगर इनके एक, एक लफ़्ज़, एक, एक जज़्बे पर सिर्फ़ और सिर्फ़ इनकी शख़्सियत की शबनम बरसती है. हां...शायद बहुत ज़्यादा अदबी माहौल न होने की वजह से कुछ कमज़ोरियां इनके यहां मौजूद हैं, जिनसे मैं सरसरी गुज़र जाना चाहता था, मगर ये दियानतदारी के ख़िलाफ़ होता. इनके एक गीत का मुखड़ा है :

एक तार कांटों वाली
मिरे उसके बीच आली

तार मुज़क्कर (पुल्लिंग) है और क़ाफ़िया की मजबूरी के बावजूद मुज़क्कर है. इसी तरह इनकी एक ग़जल की रदीफ़ :

आपको बेवफ़ा निकलना था

इनके बाक़ी मिस्रों के पस-मंज़र को उभारने में इसलिए नाकाम है कि :

उसकी पुरशिस से ही मैं खिलने लगी (पूछ, आदर)
दर्द मेरा दवा निकलना... था

तमाम शे'रों में शे'रे-मज्कूर की तरह 'होना' का महल बनता है. इधर कई दूसरे शुअरा भी इसी सूरत लफ़्ज़ों की परछाइयों से नावाक़िफ़ियत की बिना पर एक नई ज़बान का मंज़रनामा तैयार करने में लगे हुए हैं. इससे हम सब को ही बचना चाहिए.

जज़्बों के आबशार, हिद्दते-फ़न, ख़यालों की शबनम, रूह का ग़ुबार और लहजे की ऐसी नर्मी और घुलावट बहुत दिनों से किसी ख़ातून के यहां शे'री ख़ज़ाने में इज़ाफ़े का बाइस नहीं बनी थी, इसलिए ये किताब बहुत सहज और यकसूई (एकाग्रता) के मुतालए का तक़ाज़ा करती है. इनका एक शे'र आख़िर में नज़्रे-क़ारईन :

शॉल में उसकी चली आती हूं सिमटी, सिमटी
मुझ को दुनिया की नज़र से है छुपाता कोहरा

(31 जनवरी 09, 11 बज कर 39 मिनट सुब्ह) ❑

रूह की मुंडेर पर/रूपा सबा/मॉडर्न पब्लिशिंग हाउस, 9 गोला मार्केट, दर्यागंज, नयी दिल्ली-6/2008/200.00

49, धर्मदास, नजीबाबाद-246763 (यू.पी.), फ़ोन : 01341-220657

मुन्अकिस

रिज़वान अहमद फ़ारूक़

फ़े.सीन. एजाज़ की ये किताब 94 रंगारंग नज़्मों के उर्दू तर्जुमे पर मुश्तमिल है. माहनामा 'इंशा' के मुदीर फ़े.सीन. एजाज़ न सिर्फ़ एक सरगर्म सहाफ़ी हैं, बल्कि अदब में शाइरी, अफ़्सानानिगारी, तन्क़ीद और तर्जुमे में भी इन्हें अच्छी महारत है. तर्जुमे के फ़न पर इनके मज़ामीन भी रिसालों में शाए' होते रहते हैं.

एक ऐसा शख़्स, जो ख़ुद तख़्लीक़कार भी हो और मुतरजिम भी, उसके तर्जुमे की अहमियत दो चंद हो जाती है, क्योंकि तख़्लीक़ी तज्रिबात और लफ़्ज़ी कायनात की बारीकी को वो ख़ूब महसूस करता है और फिर अस्ल टेक्स्ट के साथ ज़ेहनी व जज़्बाती सफ़र करके अपने तर्जुमे को तख़्लीक़ का रंग दे देता है. फ़े.सीन. एजाज़ ने विलियम शेक्सपियर, एलेक्जेंडर ब्लॉक, आईहोर मेरातोफ, अलीम केशोकोफ़, टी.एस. एलियट, पाब्लो नेरूदा, महमूद दरवेश, समीउल-क़ासिम, गीतांजलि और समीर मुखर्जी जैसे 28 शुअरा की तख़्लीक़ात का अंग्रेज़ी से उर्दू में तर्जुमा किया है. नज़्मों के ये तर्जुमे 'इंशा' में भी शाए' होते रहे हैं, लेकिन अब उन्हें किताबी शक्ल दी गयी है. उम्मीद है कि इस तर्जुमे का पुरकैफ़ रोमानी और इन्क़िलाबी आहंग पाठकों में ख़ातिरख़्वाह क़बूलीयत हासिल करेगा. (उर्दू दुनिया—मार्च 09 से) ❑

मुन्अकिस/मुतरजिम-फ़े.सीन. एजाज़/इंशा पब्लिकेशन्स, ज़करिया स्ट्रीट, कोलकाता/160.00

कोई विचारधारा अन्तिम सत्य नहीं होती

सुरेश पंडित

हिन्दी लेखकों की विशाल भीड़ में श्रीभगवान सिंह शामिल रहते हुए भी कुछ अलग से दिखाई देते हैं, क्योंकि वे शब्दों और उनके रूढ़ अर्थों को ज्यों-का-त्यों ग्रहण कर अपना मन्तव्य प्रकट नहीं करते; बल्कि उन्हें अपनी तरह से लेते हुए उनकी व्याख्या करते हैं और अपने पक्ष को प्रामाणिकता देने के लिये उपयुक्त तर्क भी जुटाने की कोशिश करते हैं. लेकिन लीक से हटकर वे जो कुछ भी प्रस्तुत करते हैं उसमें अटपटापन तो रहता ही है, पाठक के उनसे कन्विंस न होने-असहमत होने का ख़तरा भी बना रहता है. अब ज़रा उनकी जिस पुस्तक की समीक्षा मैं लिखने जा रहा हूं, उसके शीर्षक पर ही ग़ौर फ़र्माइये–'गांधी और दलित भारत-जागरण' इसमें 'गांधी दलित' मोटे अक्षरों में है 'और' उनसे छोटे तथा 'भारत-जागरण' और छोटे अक्षरों में छपा है. जिस तरह यह टाइटल छपा है उससे स्पष्ट प्रकट होता है कि पुस्तक गांधी और दलित के बारे में है–'भारत-जागरण' इसका परिशिष्ट भाग मात्र है. लेकिन वास्तविकता यह है कि इसमें दलित शब्द अलग जातिवाचक या समूह सूचक संज्ञा नहीं है, बल्कि भारत का विशेषण है. वे दलित शब्द की अर्थव्याप्ति को विस्तार देते हुए पराधीन को भी उसमें समेट लेते हैं और पराधीन भारत को दलित भारत मानते हुए उसे जाग्रत करने में गांधी और अम्बेडकर के योगदान को अपनी विवेचना का विषय बनाते हैं और इसमें भी कोशिश यह रही है कि अम्बेडकर गांधी के मुक़ाबले कमतर ही बने रहें. ज़ाहिर है, यदि लेखक शीर्षक का ख़ुलासा कर अपनी मान्यता को स्पष्ट नहीं करता है; तो पाठक का भ्रमित हो जाना अनिवार्य-सा हो जाता है.

लेखक को इस बात पर घोर आपत्ति है कि दलित शब्द जो संस्कृत में 'दल' धातु से बना और विदारण व विकसन के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा था, उसे लोगों ने आजकल हिन्दू समाज की वर्ण-व्यवस्था के तहत अस्पृश्य समझी जाने वाली जातियों तक सीमित करके रख दिया है. लेकिन वे यह भी जानते हैं कि भाषाएं निरन्तर बदलती हैं और अपनी मूल या मातृभाषाओं से दूर से दूर होती चली जाती हैं. एक अवस्था ऐसी भी आती है कि वे उनसे न केवल अलग बल्कि स्वाधीन भी हो जाती हैं. हिन्दी आज उसी अवस्था में है, इसलिए उसकी जड़ों को संस्कृत में खोजने से कई बार हम उलझन में भी पड़ सकते हैं. इसी तरह शब्दों के अर्थ भी देशकाल परिस्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं. 'हरिजन' शब्द जो कभी भक्त के लिये प्रयुक्त होता था, गांधी उसे अस्पृश्य का पर्याय बना देते हैं. 'कारागार' कृष्ण मन्दिर बन जाते हैं.

लेखक दलित शब्द की अपनी व्याख्या कोस ही ठहराने के लिये गांधी के उन

भाषणों एवं लेखों का ज़िक्र करते हैं जिनमें वे कहते हैं–'जो देश गुलाम है, वहां का हर व्यक्ति गुलाम है और जो गुलाम होगा वह दलित कहलायेगा ही.' लेकिन अब तो देश को गुलामी से छुटकारा पाये 60 साल से ऊपर गुज़र चुके हैं और श्रीभगवान सिंह गांधी पर यह पुस्तक तब लिख रहे हैं, जब दलित शब्द का वह व्यापक अर्थ नहीं रहा है, जो तब हुआ करता था.

लेखक के इस विचार से सहमति प्रकट की जा सकती है कि गांधी को दलित विरोधी कहना न केवल उनके साथ अन्याय करना है, बल्कि उनके विचारों व कामों के बारे में अनभिज्ञता ज़ाहिर करना भी है. दरअस्ल अम्बेडकर जहां जाति के कारण हिन्दू समाज में बचपन से ही अपमान व प्रताड़ना के शिकार होते हैं, वहीं गांधी नस्लभेद के कारण श्वेत जाति की हिक़ारत का पात्र बनते हैं. उन्हें यह अपमान-बोध इतना सताता है कि वे अपने संस्कारों से लड़ते हुए, अपने समाज के अस्पृश्यों को सम्मानजनक स्थान दिलाने के लिए संघर्ष छेड़ने को तत्पर हो जाते हैं. वे साफ़ तौर पर ऐलान करते हैं कि 'जब तक अछूतपन नहीं मिटता, स्वराज्य नहीं आ सकता.' क्योंकि वे मानते हैं कि स्वराज्य का अर्थ पतितों का उद्धार है. वे प्रायः सभी जगह दलित की जगह अछूत या अस्पृश्य शब्द का प्रयोग करते हैं और 'अछूतोद्धार' या 'अस्पृश्यता निवारण' के लिये आन्दोलन चलाते हैं. अपने एक भाषण में वे कहते हैं–'यह बात सच है कि हिन्दू धर्म में अस्पृश्यता पाप नहीं समझी जाती है. मैं शास्त्रों की व्याख्या के सम्बन्ध में किसी वाद-विवाद में नहीं पड़ना चाहता. भागवत या मनु स्मृति के प्रमाण देकर अपनी बात को सिद्ध करना शायद मेरे लिये कठिन भी है. लेकिन मैं हिन्दू धर्म के तत्त्वों की समझ चुकने का दावा करता हूं. अस्पृश्यता की अनुमति देकर हिन्दू धर्म ने पाप किया है. इससे हमारा पतन हुआ है और हम साम्राज्य में शूद्र जैसा ही माने जाते हैं. 'यहां के जातीय भेदभाव को अंग्रेज़ों के रंगभेद जैसा ही मानते हुए वे कहते हैं–'भारतवर्ष में अछूत जातियों के साथ सवर्ण हिंदू जिस अस्पृश्यता का पाप करते आ रहे हैं, उसी का दण्ड वे दक्षिण अफ़्रीक़ा में रंगभेद के रूप में भोग रहे हैं.' और भी अनेक ऐसे उद्धरण लेखक गांधी जी के वक्तव्यों तथा लेखों से देते हैं जो यह साबित करते हैं कि वे अस्पृश्यता को जड़मूल से उखाड़ फेंकने और अछूतों के पुश्तैनी काम-धन्धों को डॉक्टरों, शिक्षकों व वकीलों के काम की ही तरह सम्मानजनक बनाना चाहते थे. यह सब वे उस समय कर रहे थे जब अम्बेडकर इस क्षेत्र में आये तक नहीं थे. ऐसा सोचना-कल्पना करना भी तब लोगों में एक प्रकार के ज्वालामुखी विस्फोट का कारण बन जाता था.

लेकिन यह भी सच है कि अम्बेडकर की तरह गांधी के लिये दलित मुद्दा सर्वोच्च प्राथमिकता का मुद्दा नहीं था. वे स्वराज्य प्राप्ति से पहले इस मुद्दे का समाधान करा लेने के प्रति कृत संकल्प नहीं थे. न ही इसके लिये वे हिन्दू धर्म से निर्णायक संघर्ष

छेड़ने के लिये तत्पर दिखाई देते हैं. वे वर्णव्यवस्था को बनाये रखने के पक्ष में रहते हैं और इसी में रहते हुए अछूतों के कष्टों को हरना व उन्हें न्याय दिलाना चाहते हैं. शूद्र उनकी दृष्टि में शूद्र ही रहता है. वे उसे शूद्र की श्रेणी में रखते हुए ही अन्य वर्णों की तरह सम्मान दिलाना चाहते हैं. उसके काम को गर्हित नहीं रहने देना चाहते. लेकिन व्यवस्था बदलने की सोच उनमें दिखाई नहीं देती. दरअस्ल वे जितनी सफलता के साथ स्वाधीनता संग्राम बना नेतृत्व सम्हालते हुए उस मुहिम को इच्छित मंज़िल तक पहुंचाने के लिये अपनी जान तक को जोखिम में डाल देने में हिचकिचाहट नहीं दिखाते, वैसा साहस वे अछूतोद्धार या समाज सुधार की अन्य गतिविधियों में नहीं दिखा पाते. वास्तव में यह उनकी मजबूरी थी, क्योंकि वे यह अच्छी तरह से जानते थे कि यदि उन्होंने हिन्दू धर्म की अस्पृश्यता जैसी सामाजिक कुप्रथाओं को मिटाने पर अपना ध्यान पूरी तरह केन्द्रित कर दिया, तो आज़ादी की लड़ाई के लिये जो भीड़ उनके साथ खड़ी होती जा रही है, वह बिखर जायेगी और वे दोनों लड़ाइयां हार जायेंगे. न वे समाज में सुधार कर पायेंगे और न देश को आज़ाद करा पायेंगे. यह सचाई किसी से छिपी नहीं है कि उनके पीछे खड़े राजनेताओं की लम्बी शृंखला में ऐसे लोगों की कमी नहीं थी जो उनके हरिजनोद्धार के कार्यक्रम को दिल से पसन्द नहीं करते थे. वे देश की स्वाधीनता के लिये तो एकजुट थे, गांधी की शेष सभी बातों से कमोबेश सहमत नहीं थे.

गांधी देश के लिये स्वराज प्राप्ति को पहली आवश्यकता मानते हैं, लेकिन दलित मुक्ति की अहमियत को स्वीकारते हुए भी उसे दूसरा स्थान देते हैं और अपनी इस वरीयता को उचित ठहराने के लिये वे दलीलें देते हैं–'मगर किसी गुलाम देश के किसी व्यक्ति के लिये अपने आपको गुलामी से छुटकारा दिलाये बिना दलित जातियों के लोगों को उनकी गुलामी से छुटकारा दिलाना संभव होता, तो मैं आज ही यह काम कर गुज़रता. लेकिन यह असंभव है.' इस तरह की बुराइयां मिटाने के लिये अपना राज होना पहली आवश्यकता है. पर अफ़सोस है, ऐसा होने के 60 साल बाद भी उनका वह स्वप्न आज तक पूरा नहीं हुआ है. अम्बेडकर का इस बात को लेकर गांधी से प्रचंड विरोध था. वे चाहते थे पहले दलित प्रश्न का समाधान हो और फिर सब मिलकर स्वराज्य प्राप्ति के लिये संघर्ष करें. उन्हें डर था कि यदि इसी तरह की वर्णाधारित समाज व्यवस्था के चलते स्वराज्य मिल जाता है, तो सवर्ण सत्ता पर क़ाबिज़ हो जायेंगे और दलितों को न्यायोचित अधिकार नहीं मिलेंगे. कुछ हद तक अम्बेडकर का यह सोचना ग़लत नहीं था, क्योंकि स्वराज प्राप्ति के बाद अब तक दलितों ने जो कुछ पाया है, उसे हिन्दू समाज ने स्वेच्छा से नहीं दिया है और अभी तक भी बराबरी के लिये बहुत कुछ पाना शेष है. इसी तरह गांधी धर्मान्तरण में भी अछूतों की मुक्ति नहीं देखते. वे कहते हैं कि यदि ऐसा करने से समानाधिकार पाये जा सकते, तो मैं न केवल हिन्दू धर्म छोड़ देने के लिये ही कहता; बल्कि उनके साथ उसे मैं भी छोड़ देता. लेकिन

वास्तव में यह बुराई इस धर्म का मूल अंग है नहीं. यह तो आरोपित है, इसलिए इसे दूर भी किया जा सकता है. उनका दृढ़ मत है कि हिन्दू धर्म में भेदभाव के लिये कोई स्थान नहीं रहा है. इसे तो निहित स्वार्थी लोगों ने ऐसा बना दिया है.

दलितों को अपने बराबर मानने की मानसिकता लोगों में विकसित करने के लिये वे किसी तरह की ज़ोर ज़बरदस्ती के पक्ष में नहीं थे. जो लोग अन्त्यजों के साथ अमानवीय व्यवहार करते थे उनसे गांधी ने स्पष्ट शब्दों में कहा था–'आप यदि अपने आपको क्षत्रिय समझते हैं तो आप अन्त्यजों के साथ ज़बरदस्ती नहीं कर सकते. गीता देवताओं को सन्तुष्ट रखने को कहती है. देवता आकाश में नहीं हैं. आपके देवता अन्त्यज हैं. हिन्दुस्तान का देवता यहां की ग़रीब जनता है. अन्त्यजों और रंकों को यदि हम स्थान नहीं देंगे तो हमारा नाश निश्चित है.'

गांधी जो कुछ कहते थे, उस पर स्वयं आचरण भी करते थे. उनका स्वयं मलमूत्र साफ़ करना, हरिजन बस्तियों में रहना, आम आदमियों का-सा लिबास धारण करना उन्हें दीन, हीन दलितों के पास ले जाता है, उनसे तादात्म्य स्थापित करने का मार्ग सुगम करता है. वे हिन्दू धर्म की, वर्णाश्रम व्यवस्था की और श्रम विभाजन की वकालत करते हुए भी देखे जा सकते हैं. लेकिन वे जैसे-जैसे ज्ञान और अनुभव के क्षेत्र में आगे बढ़ते हैं अपने आपको, विचारों को, जीवन शैली को भी बदलने में संकोच नहीं करते. वर्ण-विभाजन को उचित ठहराने वाले गांधी आगे चलकर अन्तर्जातीय, अन्तर्धार्मिक विवाह को मान्यता देने लगते हैं. स्वयं को कट्टर सनातनी हिन्दू होने की घोषणा करते हुए भी हिन्दू धर्म की जितनी तीखी आलोचना वे करते हैं, उतनी तो कोई विधर्मी या नास्तिक भी नहीं कर सकता. इसी तरह श्रम विभाजन को सही मानते हुए भी वे हर प्रकार के श्रम को सम्मानजनक मानने पर भी ज़ोर देते हैं. इस तरह वे करो और सीखो की राह पर चलते दिखाई देते हैं.

अस्पृश्यता निवारण के साथ-साथ इस पुस्तक में लेखक स्त्री-समस्या, राष्ट्रभाषा और स्वराज्य पर भी गांधी के विचारों को अपने विमर्श का केन्द्र बनाते हैं और इसी में उन वादों, विवादों का भी समुचित उत्तर देते दिखाई देते हैं जो गांधी के आलोचकों द्वारा उनके समय से लेकर अब तक उठाये जाते रहे हैं. लेकिन गांधी के पक्षधर की भूमिका निभाते हुए भी वे कहीं-कहीं उनके आलोचकों के प्रति जिस तरह से 'हार्श' व अमर्यादित होते हैं, उनकी उस मुद्रा को किसी भी तरीक़े से सही नहीं ठहराया जा सकता. मुझे लगता है कि गांधी के विचार इसी कारण महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि उनको लेकर आज भी सहमति-असहमतियों का सिलसिला जारी है. यदि वे प्रासंगिक न होते, तो उन्हें कभी का विस्मृति के गर्त में दफ़्न कर दिया गया होता. सच है कि हम गांधी के ज़माने से बहुत आगे निकल आये हैं. देश दुनिया का राजनैतिक, सामाजिक व आर्थिक परिदृश्य अब वैसा नहीं रहा है जैसा गांधी के दिनों में था. लेखक ने गांधी

वाङ्मय का विधिवत् अध्ययन करने के बाद ही इस पुस्तक की रचना की है, इसीलिए उसकी स्थापनाओं की प्रामाणिकता पर तो संदेह नहीं किया जा सकता. लेकिन समसामयिक यथार्थ की कसौटी पर गांधी के विचार कहां तक खरे उतरते हैं, यह जानने की कोशिश लेखक कहीं करता दिखाई नहीं देता. बहुत-सी ऐसी बातें हैं जो गांधी के लिये सत्य थीं, पर आज वे वैसी नहीं रही हैं. हो सकता है, गांधी आज होते तो अपनी उन मान्यताओं को बदल देते. पर गांधी के अनुयायी जिस तरह आँख मूंदकर उनकी हर बात को वेदवाक्य बता रहे हैं, यह प्रवृत्ति कदापि उचित नहीं है. कोई भी विचारधारा अन्तिम सत्य तक पहुंचने का दावा नहीं कर सकती. उसमें संशोधन-संवर्धन की गुंजाइश हमेशा बनी रहती है. श्रीभगवान सिंह को भी इस सचाई को स्वीकार लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये. ❑

गांधी और दलित भारत-जागरण/श्री भगवान सिंह/भारतीय ज्ञानपीठ, 18 इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली/मूल्य - 250 रुपये

383 स्कीम नं. 2, लाजपत नगर, अलवर-301001, मो. 9214945156

सबके हिस्से का शहर

सत्यनारायण

शहर वही शहर नहीं होता जो हम देखते हैं, जिसे हम जानते हैं. हो सकता है, हमारे पड़ोस में शहर का ख्यातनाम व्यक्ति रहता हो और उसके न रहने के बाद अख़बारों में पढ़ें कि वह बड़ा साहित्यकार था या नामी कलाकार. कई बार शहर के बाहर किसी छतरी या चबूतरे पर आते-जाते यों ही बैठे हों और बाद में पता चले कि यह मामूली छतरी या चबूतरा नहीं, बल्कि फ़लाने महापुरुष की अंतिम शरण स्थली है. कई लोग अपने ही शहरों तक रह जाते हैं और चुपचाप अपने-अपने क्षेत्र में काम कर ख़ुशी-ख़ुशी बीत जाते हैं. उनके श्रम, उनके काम की गंध बाहर तक नहीं जा पाती. ऐसे शख़्स और उनसे सम्बन्धित कहानियाँ हर शहर में मिल जाएंगी, पर इन्हें लिख कौन पाता है!

शाहजहाँपुर एक छोटा-सा क़स्बानुमा शहर है या शहरनुमा क़स्बा है, जहां वर्तमान में हृदयेश जैसे कहानीकार रहते हैं, तो प्रसिद्ध कथाकार राजी सेठ भी वहीं की हैं. हिन्दी के विस्फोटक एकांकीकार भुवनेश्वर की जन्मस्थली यही है. काकोरी का प्रस्थान बिन्दु यही शहर है, तो वहां मज़ार में दफ़न सर के बारे में जब पता चलेगा, तो आप दहल जायेंगे. रामप्रसाद बिस्मिल, अशफ़ाक़उल्लाह ख़ां से लेकर पं. बशीरुद्दीन और बिशनचन्द सेठ तक शख़्सियतों की एक लम्बी फ़ेहरिस्त है, जो इस शहर को एक नयी पहचान देती है और इस दबी पहचान को खुरच कर बाहर लाने वाले शख़्स हैं,

यायावर सुधीर विद्यार्थी; जो एक जुनून की तरह क्रांतिकारियों के जीवन को केन्द्रबिन्दु बनाकर अपने लेखन-कर्म को सार्थक कर रहे हैं, चाहे इसके लिए कई बार उन्हें सराहना की जगह शासकीय प्रताड़ना ही क्यों न झेलनी पड़े, पर वे अपने पथ से कभी विचलित नहीं हुए.

इसी क्रम में सुधीर विद्यार्थी की सद्य प्रकाशित पुस्तक है 'मेरे हिस्से का शहर'. पाठक पायेंगे कि यह वह शहर नहीं है जो उन्होंने देखा और देख रहे हैं. इनके हिस्से में मात्र इमारतें व नदी-नाले नहीं हैं और नहीं हैं बड़े-बड़े मॉल. यह वह हिस्सा है, जो लगातार हमारी स्मृतियों से लोप होता जा रहा है या किया जा रहा है, एक साज़िश के तहत.

क्रांतिकारियों का गढ़ रहा है शाहजहाँपुर, जहाँ रामप्रसाद बिस्मिल, अशफ़ाक़ उल्लाह ख़ां तो थे ही. वहां की एक 'मज़ार में दफ़्न सर' प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम के सेनानी अहमद उल्लाह शाह फ़ैज़ाबादी का है और प्रख्यात एकांकीकार भुवनेश्वर की जड़ें यहां हैं, तो वर्तमान में विशनचन्द सेठ जैसे लोग भी रहे हैं जो अपने शहर के लिए, वहां के लोगों के लिए किस तरह समर्पित रहे हैं. इसी कड़ी में गप्पी बाबू हैं और हैं मामाप्रकाश जी और हैं अकेले सब कुछ या एक अकेले पार्टी मोहम्मद मियां साहब.

कुल मिलाकर यह सिर्फ़ लेखक नहीं, बल्कि उस हर व्यक्ति का शहर है जिसकी ओलनाल अपने शहर में गड़ी होती है और जो अपनी जड़ों को नहीं भूलता, वहीं उसकी गंध को पहचान सकता है. लेखक के शब्दों में 'इस पुस्तक के माध्यम से मैं अपने जिए शहर को वह लौटाना चाहता हूँ जो उसने उम्र के सबसे महत्त्वपूर्ण समय में मुझे अनुभव और स्मृति के रूप में दिया. मैं कह सकता हूँ कि इस शहर ने मुझे एक पहचान दी, जिस पर मैं गर्व कर सकता हूँ.' कोई भी व्यक्ति इस तरह अपने शहर या अपने सम्पर्क में आए लोगों को रेखांकित करे, तो आने वाली पीढ़ियों के लिए उसकी सबसे बड़ी सौग़ात या क़र्ज़ अदायगी होगी.

प्रकाशकीय के अनुसार 'सुधीर ने वर्षों तक इसी शहर में रहते हुए संस्कृति कर्म किया है. उन्हें लगता है कि उनके पैर आज भी उसी धरती पर टिके हुए हैं. इसके बावजूद यह पुस्तक शाहजहाँपुर या ज़िले का इतिहास नहीं है, बल्कि इसके केन्द्र में वे लोग हैं जो या तो इतिहास में दर्ज हो गये या जिनके साथ जीते-रहते लेखक का वर्तमान अतीत में तब्दील हो चुका है. ऐसे लोगों की चाल, आवाज़, आँखों के पानी और उनकी सांसों की महक को पाठक यहां सहज ही अनुभव करेंगे.' संक्षेप में कहा जाए, तो यह पुस्तक शाहजहाँपुर व वहां के लोगों से इस तरह जोड़ती है कि तवारीख़ की तस्वीर में बैठे लोग पाठक के समक्ष आकर खड़े हो जाते हैं और वह हतप्रभ-सा रह जाता है. यदि कुछ खटकता है, तो यही कि लेखक इनमें उतना रम नहीं पाया या

आत्मसात नहीं कर पाया. इतिहास से गुफ़्तगू की, पर उन लोगों की आत्मा से नहीं. लेखक एक गाइड की तरह बताते हुए आगे चल देते हैं, यदि कुछ देर ठहरते, तो शायद उनके हिस्से का शहर और अधिक सबके हिस्से का शहर बन पाता और एक आँसू अजाने उनकी आँख से भी निकलता कि कैसा था वह शहर और उसके लोग! ❑

मेरे हिस्से का शहर/सुधीर विद्यार्थी/प्रतिमान प्रकाशन, सदर बाज़ार, शाहजहाँपुर/मू. 150/-

72/5, शक्ति कॉलोनी, रातानाडा, जोधपुर

कविता की कॉलोनी में सार्थक हस्तक्षेप

डॉ. वरुण कुमार तिवारी

आज की कविताएँ पारम्परिक काव्य-शिल्प और काव्य-भाव की समरस भूमिका को तोड़ती हैं और व्यवस्था की प्रतिगामी शक्तियों के प्रति समवेत रूप से हस्तक्षेप करती हैं. हितेश व्यास रचित 'रेत से नदी तक' की कविताएँ मानव-संघर्षों के इतिवृत को लक्षित करती हैं. जहाँ कहीं भी इयत्ता के लिए अथवा जिजीविषा के लिए संघर्षरत मानव हैं, उनके स्वरूप और उदात्त सोच को उजागर करना ही संग्रह की कविताओं का प्रतिपाद्य है. भूमिका लेखक डॉ. श्याम दिवाकर ने लिखा है–'रेत से नदी तक' की कविता पड़ोस से जीवन की परिधि तक उड़ान भरती है. यहाँ सुख के क्षण हैं, दुःख के भी. यहाँ अश्रु भी हैं, हास भी. यहाँ असफलता भी है, गिरकर उठने का साहस भी. व्यष्टि से समष्टि की यात्रा के जितने भी पड़ाव संभावित हैं प्रायः सभी से होकर गुज़रकर ही रेत का कवि नदी तक पहुँचा है.

सांप्रतिक समाज में व्याप्त व्यक्तिगत जीवन के अन्तर्विरोध, वर्ग-वैषम्य, वर्ण-वैषम्य, रेत होती संवेदना, खोखले हो रहे संबंध, टूटते-बिखरते मूल्यादर्श इत्यादि जीवन के कटु यथार्थ को कवि हितेश व्यास ने विभिन्न पहलुओं से देखने-परखने की भरपूर कोशिश की है. 'मैंने अपने हाथों से', 'जीत और हार', 'शब्द-युद्ध', 'सत्य', 'हाशिया और पेज', 'प्रति प्रति कविता', 'साहेब नाटक', 'जंग', 'अस्तबल', 'आदमी और साँप', 'सीधी रेखा खींचना टेढ़ा काम है', 'जै कन्हैयालाल की', 'आइये, ठहाके लगाइये', 'वो कौन है', 'लहरचन्द', 'शब्दों के सौदागर' और 'मनुष्य को बचाओ' शीर्षक कविताएँ उपरोक्त कथन को प्रमाणित करती हैं. अनेक कविताओं में कवि ने इस तथ्य का अंकन किया है कि सुविधाभोगी लोग विसंगतियों, त्रासदियों और अत्याचारों को देखते रहते हैं और संवेदनहीन बनकर चुप रहते हैं. इस तरह वे सुरक्षित रहते हैं लेकिन विसंगतियों को उजागर करने वाले, सच बोलने वाले दुःख झेलते हैं, शत्रुओं की संख्या बढ़ा लेते हैं और असुरक्षित हो जाते हैं. जब संवेदनशीलता पत्नी और बच्चे तक सिमट जाती है तो परिवार में वृद्ध उपेक्षित हो जाते हैं और एकाकीपन

के बोझ के दर्द को सहने के लिए बाध्य होते हैं. 'पिता की स्मृति', 'मैं वहाँ नहीं था' एवं 'हाँ, ठीक यहीं पर' कविताओं में कवि ने वृद्धों के प्रतिसंवेदनहीनता को गहराई से रेखांकित किया है.

'निष्कर्ष' कविता में कवि युद्ध के बीज को मनुष्य के मस्तिष्क में छिपे अहंकार में ढूंढ़ता है और उसे मिटाना चाहता है ताकि आगे युद्ध नहीं हो. 'मेरी कविता बनाम तुम्हारी' में कवि पेड़ से काग़ज़ तक का सफ़र करता है और फ़र्नीचर के लिए कटते पेड़ की थरथराहट को गहराई से महसूसता है. 'मोबाइल में तब्दील' और 'बीसवीं सदी का आख़िरी साल' में बाज़ारवाद और उत्तर आधुनिकता के दुष्प्रभावों को उजागर किया गया है. 'शब्द युद्ध' में समाज में सर्वत्र व्याप्त विषमता पर चुप्पी साध लेने वाले और मतलब से मतलब रखने वाले दुनियादारी लोगों पर मारक प्रहार है–*'तुम दुनियादार हो मैं ईमानदार/तुम सुखी रहने के लिए बीमित हो/मैं दुःखी रहने के लिए अभिशप्त/न चाहते हुए भी आखिर हमारे बीच/एक निर्णायक और अंतहीन/ठन ही गया है शब्द युद्ध.'* 'मैंने अपने हाथों से', 'जीत और हार', 'हाशिया और पेज', 'सत्य' और 'सीधी रेखा खींचना टेढ़ा काम है' इत्यादि कविताओं में भी कवि ने उपरोक्त तथ्य को व्यंजित किया है.

आज रिश्तों को बाज़ारवाद, स्वार्थवाद और व्यक्तिवाद की बुरी नज़र लग गई है, फिर 'वसुदेव कुटुम्बकम्' के प्रवचन का क्या अर्थ है? आज स्थिति यह है कि ख़ुद ही घर में आग लगा रहे हैं, ख़ुद ही तमाशाई हैं, ख़ुद ही अफ़सोस जता रहे हैं और आस भी लगाए हैं कि कोई आकर आग बुझाएगा. ज्ञान और सद्भाव के अभाव में यही संब होता है. 'प्रेम और ज्ञान के बिना' में कवि कहता है–*'जब टूट रहा हो कुटुम्ब/तो वसुधा को कुटुम्ब कहना छलावा है/राजनीति बन गई जीवन का शीर्षक/ये कैसी विडम्बना है कि हम खुद ही लगा रहे हैं/अपने घर में आग/ख़ुद ही बन गए हैं तमाशाई/ख़ुद ही कर रहे हैं अफ़सोस/और उम्मीद लगाये बैठे हैं/कि कोई आग बुझाने वाला आयेगा.'* 'वसन्त ने कहा' में कवि अपने आत्मविश्वास में आस्था प्रकट करता है. 'रेत से नदी तक' में व्यष्टि से समष्टि की यात्रा के पड़ावों से गुज़रकर रेत का कवि नदी तक पहुँचता है.

'प्रति प्रति कविता', 'साहेब नाटक', 'अस्तबल', 'आदमी और साँप', 'लहरचन्द' और 'संक्रांति की प्रतीक्षा' में बिना लाग-लपेट के कवि ने प्रत्यक्षदर्शी गवाह की तरह दो टूक शब्दों में अपनी वैचारिकता को अभिव्यक्ति दी है. इन रचनाओं में जीवन और समाज के यथार्थ को कल्पना के सहारे नहीं, बल्कि भोगे गए जीवन की प्रामाणिकता के साथ कवि हितेश ने जिस विश्वास के साथ व्यक्त किया है, वह प्रशंसनीय है.

ज़िन्दगी और मौत की जंग में हमेशा ज़िन्दगी की जीत होती है, क्योंकि ज़िन्दगी के साथ जिजीविषा है. अस्तित्ववादी चिन्तक ज्याँ पॉल सार्त्र की मान्यता को संपुष्ट

करते हुए 'जंग' में कवि कहता है–*'जीवन सतत है शाश्वत है/आत्मघात की कोई उम्र नहीं/जीवन अनन्त है/मृत्यु का तो मतलब ही है अन्त/एक तरफ़ जीओ और जीने दो है/दूसरी तरफ़ मारो और मर जाओ/आत्मघात, अन्त का अंतहीन सिलसिला है.'*

कवि-हृदय हितेश व्यास की कविताओं में नए भाव, नई चेतना, नए बिंब दिख रहे हैं. 'नया घर' की पंक्तियाँ देखिए–*'ये नई सदी के नये आदमी का नया घर है/इस घर में पितरों, पूर्वजों और अग्रजों की छत नहीं है/स्नेह के वातायन नहीं हैं इस नये घर में/प्रेम की खिड़कियाँ नहीं हैं/नहीं है ममता के द्वार/ये बिना रोशनदानों, खिड़कियों और/दरवाज़ों का नया घर है/अलबत्ता दीवारें हैं.'* दरअसल, बदलते समाज की दिशा और दशा को कवि ने बेहद प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया है. संग्रह की कविताओं में आक्रोश और व्यंग्य की धार अधिक तीव्र है. एक समकालीन कविता की बानगी देखिए–*'जो सीधा है वो पिसता है/सुकरात मीरा ज़हर पीते हैं/गांधी गोली खाते हैं/ईसा सूली पर चढ़ते हैं/सप्त महारथियों के बीच अभिमन्यु घिरते हैं/पागल समझे जाते हैं तुग़लक़/मारे जाते हैं दाराशिकोह...आप कहाँ-कहाँ बच पायेंगे हुज़ूर/विदुर नीति हो गई है समय से दूर/दूसरा गाल सामने किया तो गला कटवायेंगे/नेकी करेंगे कुएँ में डाले जायेंगे.'* यहाँ ऐतिहासिक अपकर्ष के विषाद को कवि ने व्यंजित किया है.

समकालीन जीवन की तमाम विसंगतियों–शोषण-उत्पीड़न, संबंधों की जटिलता एवं समाजार्थिक विसंगतियों ने संवेदनशील कवि को विद्रोही बना दिया है. अतः दिनकर, नागार्जुन, मुक्तिबोध और धूमिल जैसे आक्रामक कवियों के तेवर को कवि ने अपनाया है. इनमें कबीर की इन्क़िलाबी मुद्रा भी है.

निर्विवाद रूप से संग्रह की कविताएँ आज की हिंदी कविताओं में सार्थक हस्तक्षेप करती हैं. यह कृति कवि हितेश व्यास के जीवन-मूल्यों और साहित्य-मूल्यों की श्रेष्ठ द्वन्द्वात्मक परिणति है. पुस्तक पठनीय ही नहीं, बल्कि संग्रहणीय है. ❑

रेत से नदी तक/हितेश व्यास/मीनाक्षी प्रकाशन, दिल्ली/75.00 रुपये

एस.बी.आई. कॉलोनी, वीरपुर-854340 (सुपौल) बिहार

हर बार यही होता है

हितेश व्यास

ब्लॉग्स, वेबसाइट और इंटरनेट के ज़माने में जब साहित्य इन्स्टेंट कॉफ़ी की तरह स्क्रीन पर मौजूद है, कोई उसकी प्रस्तुति को भव्य बनाने ही में सब कुछ लगा दे, इसमें समझदारी नहीं है. वह टैम गया जब आप हार्ड बाउण्ड में छपी किताब को हाथों में लेकर पंपोलते रहते थे. या अन्दर कुछ नहीं होने पर भी कविताएं महान लगती थीं, या उनकी महान व्याख्या में काग़ज़ कारे किये जाते थे. अब समय आ

ग़या है कि आप कविताओं को सादगी के साथ पेश कर दें. उनमें दम होगा तो वे ख़ुद बोलेंगी. सलीम अख़्तर ने यही किया है.

अस्सी पृष्ठ के कविता संकलन 'हर बार यही होता है' में अहिन्दी भाषी महाराष्ट्र के चित्रकार-कवि सलीम अख़्तर ने छियालीस कविताएं रख दी हैं. किताब में कहीं भी कवि के परिचय का तामझाम नहीं है. 'कविता अपने समय को दर्ज करती है' वाक्यात्मक शीर्षक से आत्म-कथ्य है. विज्ञान व्रत की भूमिका है. डॉ. शरदसिंह की प्रस्तावना है जिसमें सलीम अख़्तर के चित्रकार होने की पृष्ठभूमि में कविताओं को देखा गया है. इसलिए इसका शीर्षक 'रंगजीवी के काव्यात्मक रंग' दिया गया है. इस प्रकार इकहत्तर पृष्ठों में कुल कविताएं आ गई हैं. यह कवि का दूसरा संग्रह है. इससे पूर्व सन् 2002 में ग़ज़ल संग्रह 'काली नदियां पीले लोग' प्रकाशित हो चुका है. ग़ज़ल संग्रह का शीर्षक भी सुश्री शरद के कथ्य को प्रमाणित करता है. अर्थात् छन्द मुक्त कविताओं की यह पहली पेशकश है. आइये, अब भीतर चलें.

कवि सलीम ने विभाजन के दर्द को जनता के जड़ीभूत हो जाने के प्रतीकार्य से व्यक्त किया है, *'दीवारें उस वक़्त भी रहीं दम साधे जब बाँटा जा रहा था एक संस्कृति को दो देशों के नाम से, दीवारें ओढ़ लेती हैं चुप्पी की मोटी और भद्दी चादर जब भी होता है समय कुछ कहने का.'* सलीम अख़्तर ने कर्फ़्यू के आतंक को इन शब्दों से सृजित किया है, *'बन्द कमरों में बहता है ख़ौफ़ का पसीना, खिड़कियों की ओट से निहारती हैं पथराईं हुई आँखें, रह जाता है तो बस संस्कृति के नाम पर दरिंदगी के नारों से सनी हुई दीवारें.'*

कवि का धर्म-ग्रन्थों से मोहभंग हो गया है, *'अब हम नहीं रचेंगे मनुष्य की पशुता पर अंकुश लगाने वाली धर्म-पोथियां क्योंकि इनके बावजूद मनुष्य संवेदनाशून्य, संज्ञाशून्य ही नहीं, केवल शून्य हो गया है.'* धर्म, जाति और सम्प्रदाय का कितना विरूपीकरण हो गया है, *'धर्म को ढाल बनाकर भांजी है अपने-अपने स्वार्थ की तलवारें, जाति और संप्रदाय के नाम पर करते रहे हैं पैदा नित नये पशुओं के गिरोह, एक सांप्रदायिकता के ख़िलाफ़ खड़ी कर दूसरी सांप्रदायिकता रचाते रहे हैं तथाकथित राष्ट्रवाद का ढोंग.'* अफ़वाहें किस प्रकार सांप्रदायिक दंगे में रूपांतरित हो जाती हैं, यह द्रष्टव्य है, *'अफ़वाहें मुँहासों की तरह उग आती हैं शहर के ख़ूबसूरत चेहरे पर और हो जाती है शुरू नाख़ूनों की सांप्रदायिकता.'* सलीम मज़हबी जुनून के ख़िलाफ़ हैं, *'हम ख़ून भी बहा देते हैं ज़र-ज़र होतीं मस्जिद और मंदिरों के लिए.'*

सत्ता व्यवस्था और राजनेता को व्यक्ति की स्वतंत्रता और संस्कृति सहन नहीं होती, *'तुम्हें सताता है तुम्हारा बौनापन, जब तुम देखते हो किसी क़द्दावर युक्लिप्टस को अपनी मौज़ में डोलते हुए, जब तुम देखते हो किसी गुलमोहर का विस्तार, तुम्हें सिमटता हुआ नज़र आता है अपना तथाकथित साम्राज्य, तुम जब गुज़रते हो किसी*

गुलाब के क़रीब से तुम महसूस करने लगते हो अपने भीतर की दुर्गन्ध.' आज़ादी की इकसठवीं बरस गांठ के बाद भी लोकतंत्र की असलियत अख़्तर की कविता में इस तरह उतरती है, *'हमने लगभग आधी सदी तक सींचा है लोकतंत्र के नाम पर एक योजनाबद्ध लूटतंत्र को, हमने तमाशों की तरह देखा है चढ़ते हुए मूल्यों के आगे बौना होते हुए आदमी को.'* हमारी क्रांतिकारिता चापलूसी में तब्दील हो गई है, *'हमारी विरोध में तनी हुई मुट्ठियाँ ख़रगोशों की तरह घुसी रहती हैं हमारी पीठ की मांदों में, हमारे सीनों की आग ज़ुबानों तक आते-आते बदलती रही है स्तुतिगानों में.'*

सलीम अख़्तर की कविताएं अग्निधर्मा हैं. श्याम बेनेगल की फ़िल्म 'अंकुर' के अंत में एक बच्चे को पत्थर फेंकते हुए दिखाकर क्रांति का संकेत किया गया था. सलीम अख़्तर भी यही करते हैं, *'बच्चे ने आज पानी पर चलाया है पत्थर, कल चलाएगा शीशे पर, परसों हमारे रचे हुए ढांचे पर. बच्चे को पत्थर से दूर रखने की सभी साज़िशें हमारी हो जायेंगी नाकाम एक दिन.'* 'बच्चे भूख से मर रहे हैं', यह सिर्फ़ अख़बार की सुर्ख़ी बनकर रह जाती है. दो अच्छे आदमी का भेद अख़्तर ने कम शब्दों में बयान किया है, *'एक अच्छा आदमी ख़ुश होता है चीज़ों को टूटता देखकर, दूसरा टूट कर जुड़ती हुई चीज़ों में शामिल करता हुआ ख़ुद को.'*

सलीम अख़्तर की सड़क-1 से सड़क-9 तक की कविताएं अपना अलग वुजूद और असर रखती हैं, जैसे अज्ञेय की कविता 'नदी के द्वीप' में समाज और व्यक्ति के प्रतीक हैं, सलीम अख़्तर की सड़क-1 कविता में सड़क व घर के पारस्परिक सम्बन्ध और पार्थक्य को देखा जा सकता है, *'जब कभी घर उतर आता है सड़क पर अपनी पूरी नंगाई के साथ, उस वक़्त बहुत शर्मिन्दा होती है सड़क.'* सड़क व घर के बीच भावात्मक रिश्ता भी है और संकोच की अर्गला भी, *'हम जब होते हैं घर के भीतर, बाहर प्रतीक्षा करती है सड़क, सड़क हमेशा ही ठिठक जाती है दहलीज़ पर घर की. सड़क जानती है घर होने का अर्थ, सड़क भी होना चाहती है घर.'* यहाँ ऐसा लगता है जैसे सड़क आम आदमी का व घर ख़ास का प्रतीक हो. सड़क मनुष्य निर्मित पगडण्डी के लिए अभिशाप है, *'बिछाया जा रहा है सड़क पर कोलतार लेकिन ठेल दिये जाएंगे हाशिये पर वे कोलम्बस पांव जिन्होंने लिखी थी कभी असमतल और उजाड़ ज़मीन पर पगडण्डी.'*

एक मज़दूर के लिए 'रात दिन' का हासिल क्या है, *'एक हाथ भर थैला भरते-भरते होना होता है कितना ख़ाली, यह है दिन भर के परिश्रम की मज़दूरी का जवाब, हर रात यही बेचैनी है, हर सुबह यही चाह है.'* बाढ़ की बरबादी का मंज़र सलीम ने यूं दिखाया है–*नदी ख़ामोशी की चादर ओढ़े चली जा रही है अपने गंतव्य को जैसे लौटती है फ़ौज कर्फ़्यू के बाद शहर छोड़कर.'* हमारे भीतर का रावण अभी तक मरा नहीं है, *'रावण तुम्हारे संस्कार आज भी लोगों में ज़िन्दा है और राम! तुम्हारे अधूरे*

क़त्ल के जुर्म में आज तक शर्मिन्दा है.' 'फ़ेहरिस्त' में सलीम इस बात का सुबूत देते हैं कि एक मेहनतकश औरत के लिए ज़िन्दगी और दुनिया दोज़ख है, *'मां के लिए सिंदूर, बाप के दमे की दवा, निठल्ले पति की दारू, मुन्नी के लिए हलवा और छोटी बहन की किताब, वह निकल पड़ती है सूरज से पहले घास के गट्ठर के साथ फ़ेहरिस्त का बोझ उठाए और दिनभर फ़ेहरिस्त का सामान ख़रीदते-ख़रीदते शाम तक वह ख़ुद भी बिक जाती है.'*

शहर की चकाचौंध अख़्तर की 'तमस' में नया अर्थ देती है, *'चकलाघरों की गणिकाओं-से इशारा करते नियोन साइन, सड़कों के मध्य शोहदों की तरह क़तारबद्ध हेलोजिन, कितने लोग जुटे हुए हैं एक शहर को रौशन करने उफ़.... कितना अंधेरा उतर आया है हमारे अन्दर.'* सलीम अख़्तर की निगाह में बरगद की सार्थकता है, *'तो वह उसकी घनी छांव, उसकी शाख़ों पर स्थित पक्षियों के सुरक्षित घोंसले, उसके फलों पर चहकते जीवन, उसके तने से धागों की सूरत में लिपटी हुई हमारी आस्थाएं, उसकी जड़ों पर पसरी हुई चौपाल, चौपाल पर सिमट आना सारे गांव का और बरगद का बँट जाना सारे गांव में.'* आम आदमी की ख़ुशहाली के स्वप्न कभी साकार नहीं होते, *'हर रात यह ख़्वाब देखता हूँ और हर सुब्ह शामिल हो जाता हूँ अपने इस ख़्वाब के जनाज़े में.'* सलीम अख़्तर ने एक कविता में अपने पिता को स्मरण किया है. ये सनातन पिता है, *'पिता, नियति अनुसार हो गए हैं तब्दील पोट्रेट में, खींच दी गई है उनके चारों ओर सीमा रेखा, निश्चित कर दी गई है उनकी मुद्रा, जड़ दिया गया है उन्हें बैठक की दीवार में.'* पिताओं की नियति पोट्रेट बन जाने में है.

कुटिल राजनीति हमेशा जनता को आश्वासनों का झुनझुना थमाकर छलती रही है. पुस्तक की शीर्षक कविता में अख़्तर कहते हैं, *'हर बार यही होता है, हमारी लपलपाती जीभ चाट लेती है तुम्हारा थूका हुआ आश्वासन, हमारा खोखला पुरुषार्थ संडासों में बैठकर दौड़ाता है कल्पना के घोड़े.'* आज की पीढ़ी का भविष्य क्या है, *'आज इनमें हैं छोटे-छोटे खिलौने, कल होंगी मोटी-मोटी किताबें और परसों सुरंग की शक्ल ली हुई डिग्रियां, भटकना है इन्हें इन सुरंगों में ठोकरें खाते हुए.'*

'निवेदन' सलीम अख़्तर के चित्रकार का मंगलाचरण है, *'मालिक! कर अता मुझे अपनी विशाल धरती के कैनवास का वह कोना जहाँ लिखता है पेंटर अपना नाम और धन्य कर मुझे.'* प्रस्तावनाकार डॉ. शरद सिंह ने कवि की ख़ूबियों का बखान इस प्रकार किया है, *'इनमें शिल्पगत मौलिकता का अनुभव होता है. ये कविताएं उस शुष्कता से परे हैं जो छन्दमुक्त कवियों की आरम्भिक कविताओं में प्रायः देखने को मिलती है. शब्द-चयन में भारी-भरकम शब्दों से दूरी बनाए रखी गई है. कम-से-कम शब्दों में बहुत कुछ कह डालने की अदम्य ललक है. इनमें अपने समय का स्केच उतारने की कुव्वत है.'*

भूमिकाकार विज्ञान व्रत की दृष्टि में अख़्तर कविता को गंभीरता से लेने वाले कवि हैं–*'सलीम के लिए कविता किसी दिलजोई का सामान नहीं है. सलीम कोई शौक़िया कवि नहीं हैं. वे किसी नाटकीय अंदाज़ या अपनी बात को कहने के लिए किसी कलाकारी के पचड़े में नहीं पड़ते, बल्कि अपनी बात को बेहद सहज रूप से काग़ज़ पर उतारते हैं जैसे कि सामने बैठे व्यक्ति से बातचीत कर रहे हों.'* विज्ञान व्रत की नज़र में अख़्तर शिल्प के बजाय कथ्य को महत्त्व देने वाले कवि हैं. ❑

हर बार यही होता है/सलीम अख़्तर/वैभव प्रकाशन, अमीनपारा चौक, पुरानी बस्ती, रायपुर (छत्तीसगढ़)-492001/प्रथम संस्करण 2007/मूल्य 100 रु.

1-मारूति कॉलोनी, पंकज होटल के पीछे, नयापुरा, कोटा-324001 (राज.)

ख़ुदा की देन

नदीम अहमद 'नदीम'

डॉ. तारिक अस्लम तस्नीम साहित्य के क्षेत्र में एक सुपरिचित नाम है. विशेषतः उनकी लघुकथाएं देश की प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में हमेशा प्रकाशित होती रहती हैं. राष्ट्रीय स्तर पर आपको लघुकथाकार के रूप में विशिष्ट पहचान हासिल है.

समीक्ष्य कृति 'ख़ुदा की देन' भारतीय मुस्लिम समाज से सम्बन्धित लघुकथाओं का संग्रह है, इस दृष्टि से इसे विशेष श्रेणी में रखा जा सकता है. मुस्लिम समाज से सम्बन्धित लघुकथाओं को एक संग्रह के रूप में प्रस्तुत करने का सम्भवतया यह प्रथम प्रयास है.

धर्म या किसी समाज विशेष पर क़लम चलाना निहायत मुश्किल और जोखिम भरा काम है, क्योंकि यह ज़रूरी नहीं कि किसी लेखक के नज़रिए से कोई जनसमूह तत्काल सहमत हो जाये, क्योंकि धारा के विपरीत रचनाकर्म के अपने ख़तरे ज़्यादा हैं. समीक्ष्य कृति के ज़रिए डॉ. तारिक अस्लम तस्नीम ने जोखिम भरा क़दम उठाया है.

समीक्ष्य कृति पर लिखने से पूर्व संग्रह की तमाम लघुकथाओं को पूर्ण मनोयोग से दो बार पढ़ा है एवं डॉ. तारिक साहब की राष्ट्रीय स्तर पर पूर्व स्थापित छवि से प्रभावित हुए बिना संग्रह की लघुकथाओं पर अपने विचार प्रकट करने की कोशिश की है.

सर्वप्रथम तो इस संग्रह की लघुकथाओं को मुस्लिम समाज-संस्कृति विषयक लघुकथाएं कहना उचित नहीं होगा, जैसा कि किताब के भीतर के पृष्ठ पर शीर्षक के नीचे स्लोगन दर्ज है. अधिकांश लघुकथाओं में वे ही समस्याएं प्रमुख रूप से उभारी गई हैं, जो अन्य धार्मिक समुदायों या समाजों में व्याप्त है.

उदाहरणार्थ पृष्ठ 25 पर लघुकथा 'छोटी सी बात' में सकीना की मां सकीना

को घर देर से आने पर नसीहत करती है, लेकिन उल्टे सकीना बॉयफ्रेण्ड से मिलने की बात को छोटी-सी बात कहकर मां से कहती है, 'बस इतनी सी तो बात है और एक आप हैं कि हल्ला मचाये जा रही हैं!'

मैं हतप्रभ हूं कि इस लघुकथा के माध्यम से लेखक क्या संदेश देना चाहता है? पृष्ठ 26 की लघुकथा 'चाटुकारिता' इसी श्रेणी की लघुकथा है. इसमें कलक्टर ऑफ़िस के मुस्लिम कर्मचारियों की बातचीत है जिसके आधार पर लेखक समाज में चाटुकारिता और प्रभाव को दर्शा रहे हैं. इस लघुकथा के पात्रों की बातचीत और लघुकथा के कथानक से तो यही संदेश पाठक ग्रहण करता है कि 'खाओ-पीओ, ऐश करो.'

पृष्ठ 28 की लघुकथा 'अफ़सोस' में लड़के वाले झूठ बोलकर रिश्ता तय करते हैं. लड़के को दुबई में इंजीनियर बताया जाता है, लेकिन शादी के बाद पता चलता है कि शादी से पहले ग़लतबयानी की गई थी.

आजकल धोखे से शादी करने से संबंधित ख़बरें तो अख़बारों की दिनचर्या वाली ख़बरों में शुमार होती है.

पृष्ठ 30 की लघुकथा 'आइडिया' के कथानक के विषय में यही कहा जा सकता है कि ऐसा अपवादस्वरूप हो सकता है, इससे इन्कार नहीं, लेकिन व्यवहारिक नहीं है.

इस लघुकथा के मुख्य पात्र शहाब के बयान को मूल लघुकथा से ज्यों-का-त्यों तहरीर कर रहा हूं ताकि पाठकों तक अपनी बात को और बेहतर ढंग से सम्प्रेषित किया जा सके. 'झोंपड़े से निकालकर अपने भरे-पूरे घर में बेटे की तरह रखा, उसके डॉक्टरी पढ़ने के सारे ख़र्चे उठाये. अपनी फूल-सी बेटी रूही को साथ रहने की इजाज़त दे दी और वह कैसा तोता चश्म निकला कि पढ़ाई पूरी करते ही पलट कर भी नहीं देखा.'

उक्त लघुकथा पर विचार करें, तो पूरी तरह मतलब पर आधारित सम्बन्धों को लेखक ने उकेरा है तथा एक बाप अपनी जवान बेटी को एक ग़ैरमर्द के साथ रहने की इजाज़त दे रहा है. साथ रहने की इजाज़त से तो कुछ-कुछ 'लिव इन' की भी प्रतिध्वनि सुनाई देती है.

डॉ. तारिक़ की कुछ सकारात्मक संदेश वाली लघुकथाएं भी इस संग्रह में शामिल हैं जिनका भी ज़िक्र होगा.

पृष्ठ 32 की लघुकथा 'ऐसा क्यों किया पापा' भी पूर्णतः अव्यवहारिक लघुकथा है. पाठक कृपया ये न सोचें कि मैं लघुकथाओं में सच्चाई ढूंढ़ने का प्रयास कर रहा हूँ. लेखक कोई भी हो, वह कल्पना से ही अपनी रचना का ताना-बाना बुनता है. डॉ. तारिक़ इसके अपवाद नहीं, लेकिन इतनी कल्पना भी न हो कि पाठक के गले ही न उतरे. एक कान्वेंट पढ़ी-लिखी लड़की का निकाह 'जमायती मौलवी' से हो गया और

वह ससुराल भी चली गई. वापस घर आकर अपने पापा को उलाहना देती है कि 'आपने एक बिजनेसमेन से मेरी शादी क्यों की? एक ऑफ़िसर से न सही, किसी असिस्टेंट से ही शादी कर दी होती.'

यद्यपि कथा-कहानी में पूर्णतः सच्चाई तलाशेंगे, तो वह सत्यकथा हो जायेगी. समीक्षा का मतलब लघुकथा को सत्यकथा बनाना नहीं है. कथा-साहित्य में समीक्षा संदर्भ में दो उद्देश्य ज़ेहन में प्रमुखता से रहते हैं, सर्वप्रथम यह कि वास्तविक स्थिति को कितनी ईमानदारी से पाठकों तक सम्प्रेषित किया गया है; दूसरा लेखक क्या संदेश देना चाहता है.

पृष्ठ 41 की लघुकथा 'कोशिश' सतही है तथा किसी भी कोण से नहीं लगता कि इसका कथानक मुस्लिम समाज या संस्कृति से ता'ल्लुक़ रखता है.

पृष्ठ 43 की लघुकथा 'मज़हबपरस्त' में संदेश तो अच्छा है, लेकिन यह तो लेखक महोदय ही बता सकते हैं कि टोलियों या जमातों में ईद मिलन करने की रस्म देश के कौन-से हिस्से में है.

इनकी लघुकथाओं को पढ़ते हुए महसूस होता है कि डॉ. तारिक़ अस्लम ने इन लघुकथाओं को मुस्लिम समाज, संस्कृति विषयक लघुकथाएं किस आधार पर कहा, क्योंकि सामाजिक परिवेश के ख़ांचे में अवश्य रखा जा सकता है, लेकिन 'संस्कृति' शब्द तो अच्छे अर्थों में प्रयुक्त होता है, जबकि इनकी लगभग सभी लघुकथाओं में दोहरे चरित्र, भ्रष्टाचार, सामाजिक, राजनैतिक हैसियत प्रदर्शित हुई है जो मुस्लिम संस्कृति का हिस्सा क़तई नहीं कही जा सकती.

डॉ. तारिक़ अस्लम इन लघुकथाओं की रचना करते समय इन तथ्यों विस्मृत कर गए कि विशेषतः भारतीय समाज में मुस्लिम समाज और इस्लाम को पृथक् करके नहीं देखा जाता है अर्थात् मुसलमानों में अगर ग़ैर इस्लामी परम्पराएं या रीति-रिवाज विद्यमान हैं, तो लगेगा कि ये इस्लामी तरीक़े हैं. मसलन दरगाहों पर चादरें चढ़ाना, तावीज़-गण्डे का व्यापार, दहेज़ देना लेना, जात-पांत, इन सबका इस्लामी दर्शन में कोई स्थान नहीं है; यहां तक की ताज़िया निर्माण परम्परा भी सिर्फ़ भारतीय उपमहाद्वीप में ही है. ताज़ियों के बनाने और उनके प्रदर्शन के विषय में कुर्आन और हदीस में कहीं उल्लेख नहीं, लेकिन एक ग़ैर मुस्लिम तो इसे इस्लाम से जोड़कर ही देखेगा. इसमें उस ग़ैर मुस्लिम की कोई ग़लती नहीं है. ऐसे में बुद्धिजीवी मुसलमानों पर आज के दौर में ज़िम्मेदारी अधिक है. वे मुस्लिम समाज में व्याप्त बुराइयों को उजागर करें, साथ ही यह भी संदेश दें कि इन बुराइयों का मूल इस्लामी दर्शन से कोई लेना-देना नहीं. ये बुराइयां तो दुनिया में बदलती सोच, गिरते नैतिक मूल्यों और घटती संवेदनहीनता के कारण हैं.

अधिकांश लघुकथाओं में अंसारी, सैयद और पठान मुसलमानों के अन्तर्द्वन्द्व से जुड़ी कथाएं हैं. ऐसा लगता है कि लेखक महोदय इन्हीं जातियों के परिवेश के बाशिन्दे हैं या प्रभावित हैं. ऐसे में सम्पूर्ण मुस्लिम समाज का प्रतिनिधित्व ये लघुकथाएं नहीं करतीं.

पृष्ठ 44 की लघुकथा 'दहलीज़ पर' को मार्मिक धरातल पर रची-बुनी बेहतर लघुकथा कहा जा सकता है.

प्रूफ़ की बेतहाशा ग़लतियां भी इन लघुकथाओं को बदमज़ा कर देती हैं. पृष्ठ 45 पर दर्ज पंक्ति को ज्यों-का-त्यों तहरीर कर रहा हूं.

'सोने का अंडा देने वाला मुर्ग़ी' यहां 'वाला' की जगह 'वाली' होना चाहिए था.

पृष्ठ 46 की लघुकथा ज़रूर संदेश देने में कामयाब है, लेकिन इसका शीर्षक 'ख़ूनी लोग' की बजाए 'कथनी और करनी' होता, तो सार्थकता अधिक होती.

अधिकांश लघुकथाओं को पढ़ते हुए महसूस हुआ, डॉ.तारिक अस्लम ने अतिशयोक्ति तथा अतिरंजना में काम लिया है. अगर ऐसा होता भी है, जैसा कि अपनी लघुकथा 'ख़ुदा के लिए' (पृष्ठ 87) में एक आलिम को मिनरल वाटर, वातानुकूलित कार के साथ दिखाया गया है, तो यह अपवाद कहा जा सकता है. यह बात आम नहीं है.

कुछ सकारात्मक लघुकथाएं भी डॉ. तस्नीम ने रची हैं जिनकी मुक्तकंठ से प्रशंसा की जानी चाहिए. पृष्ठ 28 की लघुकथा 'तावीज़' एक अच्छा संदेश देने में कामयाब रही है कि क़ुर्आन की आयतों का व्यापार करने वालों को ख़ुदा की ओर से क़तई मुआफ़ी नहीं है.

पृष्ठ 29 की लघुकथा 'ख़ेमेबाज़ी' भी उत्कृष्ट लघुकथा है, जिसमें स्पष्ट संदेश है कि इस्लाम में सब बराबर हैं.

पृष्ठ 63 की लघुकथा 'भय का कारण' को अगर मैं अपनी ओर से सर्वोत्कृष्ट लघुकथा कहूं, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी. वर्तमान समय में मुसलमान जिस मानसिक यंत्रणा की स्थिति से गुज़र रहा है, उसको बेहतरीन तरीक़े से डॉ. तस्नीम ने अभिव्यक्त किया है.

तावीज़, ख़ेमेबाज़ी तथा भय का कारण जैसी लघुकथाओं को आधार मानकर संग्रह की अन्य लघुकथाओं की रचना होती, तो ज़्यादा बेहतर होता. ❑

ख़ुदा की देन/डॉ. तारिक़ अस्लम तस्नीम/लेखनी प्रकाशन, 6/2 हारून नगर, पटना/100.00

ज़ैनब कॉटेज, बड़ी कर्बला मार्ग, चौखूंटी, बीकानेर, मो. 9461911786

स्वप्न में यथार्थ की आवाजाही

डॉ. रमाकांत शर्मा

डूंगरपुर (राज.) के कवि-शाइर इस्माईल 'निसार' स्वप्न और यथार्थ के द्वन्द्व को अभिव्यक्त करने वाले संजीदा रचनाकार हैं. इनकी हिंदी-उर्दू शब्द संपदा से समृद्ध कविताओं का संग्रह 'महकेगा जंगल' सन् 2008 में प्रकाशित हुआ है. निसार की ये कविताएँ व्यापक जीवनानुभव से जुड़ी यथार्थ बोधात्मक कविताएँ हैं. इन कविताओं में ख़ूबसूरत ज़िंदगी का ख़्वाब बराबर टंगा रहता है.

इस्माईल 'निसार' की कविताएँ हिंदी-उर्दू की श्रेष्ठ काव्यपरंपरा से जुड़ कर उसे नया करने को बेचैन नज़र आती हैं. अमीर ख़ुसरो, कबीर, नज़ीर अकबराबादी और दुष्यंत की कविताओं की तरह निसार की कविताएँ भी सहज सम्प्रेषणीय और प्रभावशाली हैं. जीवन-द्रव और विचार-खनिज उन्हें सार्थक और महत्त्वपूर्ण बनाता है.

इस्माईल 'निसार' अपनी 'तस्वीर' कविता में कहते हैं–

मेरे बुज़ुर्गों ने
जो तस्वीर अधूरी छोड़ी थी
आज उस तस्वीर को
पूरी कर दी मैंने

लेकिन मेरा मानना यह है कि केवल ख़याली और यूटोपियायी तस्वीर में रंग भर देने मात्र से ज़िंदगी की असली बेरंग और बदरंग तस्वीर चमक नहीं उठती. उसके लिए सतत संघर्ष और प्रतिरोध की दरकार होती है. ख़ुशी की बात यह है कि निसार की कविताओं में इस ओर बढ़ती बेचैनी बराबर दिखाई देती है. इस्माईल का कवि-शाइर भीतर-ही-भीतर एक सुलगन से झुलसता प्रतीत होता है. तड़प और बेक़रारी उनके कवि-मन को व्याकुल बनाये रखती है.

मुक्त छंद में रिद्म को साधना मुश्किल कहा गया है, लेकिन इस्माईल 'निसार' की कविता में लय का निर्वाह ख़ूबसूरती से हुआ है. सहजता, सम्प्रेषणीयता और विश्वसनीयता इनकी कविताओं का वैशिष्ट्य है. जनपदीय चेतना के स्पर्श ने निसार की कविताओं को विश्वसनीय बनाया है. 'डूंगरपुर, जनपद की बोली-बानी, भू-आकृतियाँ, पेड़-पहाड़, नदी-नाले और रोज़मर्रा ज़िंदगी की तल्ख़ियाँ और संघर्ष उनकी कविताओं में बख़ूबी उभर कर सामने आए हैं. कुल मिलाकर उस जनपद की मिट्टी और जंगलों की महक बोलती है.

इस्माईल की एक कविता है–'बहार का मौसम'. इस कविता में स्वप्न और यथार्थ का द्वन्द्व बड़ी ही ख़ूबसूरती से व्यक्त हुआ है, कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं–

बहार का मौसम आएगा
नई कोंपलें फूटेंगी / गुल-बूटे निकलेंगे
दरख़्त फिर हरा होगा

मगर दरख़्त नंगा खड़ा था
टूटे हुए पत्तों को / अफ़सोस बड़ा था

इसी प्रकार उनकी महत्त्वपूर्ण कविताओं में सामाजिक संबंधों की पुनर्पड़ताल करती हुई कविता 'रिश्ता', संघर्ष और प्रतिरोध का स्वर मुखरित करती कविता 'नाकामी', बुश पर फेंके गए जूते के प्रहार को गुंजाती कविता 'बदला' को शुमार किया जा सकता है.

इस्माईल ने कवि-कर्म का वैशिष्ट्य यह है कि वे जीवन-संघर्षों से कतराकर नहीं निकलते, बल्कि चुनौतियों से आँखें चार करते हैं. वे ज़िंदगी जीना चाहते हैं, भगोड़े बनकर किसी आरामगाह को नहीं तलाशते. इनकी 'शाम' शीर्षक कविता शमशेर बहादुरसिंह की कविता 'एक पीली शाम' से ज़रा भिन्न है. उसमें वर्तमान दौर का त्रासद साक्षात्कार है.

इस्माईल 'निसार' की इन्तज़ार, उड़ान, रौशनी, बंधन, दरख़्त, फ़रेब, अपना घर आदि कविताएँ भी महत्त्वपूर्ण हैं, क्यों कि इनमें नई सुबह का इन्तज़ार है, क्रियाशीलता का वरण है, मंज़िल की तलाश में निकले पदचाप हैं. 'फ़रेब' शीर्षक कविता में साम्प्रदायिक और फ़िरक़ापरस्त ताक़तों पर व्यंग्य बहुत तीखा और भेदक है–देखिए कुछ पंक्तियाँ–

कुछ लोगों ने / मेरी आँखों पर
पट्टी बांध कर / मेरे हाथों में
पत्थर थमा दिए हैं
जब सारे पत्थर फेंक चुका
आँखों से पट्टी खोली
तो सामने / अपना ही घर था

मुझे यह लिखने में क़त्तई गुरेज़ नहीं कि इस्माईल 'निसार' की ये कविताएँ उर्दू नज़्म के बहुत क़रीब हैं. उर्दू-लफ़्ज़ों का धड़ल्लेदार प्रयोग क्या यही कुछ साबित नहीं करता? बहरहाल! साहित्य की दुनिया में इस सृजन-धर्मिता का स्वागत किया जाना चाहिए. ❑

महकेगा जंगल/इस्माईल निसार की कविताएँ/निधि प्रकाशन, उदयपुर/ 2008/मू. 125.00

'संकेत-निवास', ब्रह्मपुरी-प्रतापमंडल, जोधपुर (राज.) 342 001

ये ख़बरें इधर मीडिया में नहीं आतीं

ग़ाज़ा से हामिद अमीरी की रिपोर्ट

मेरी बहनों को यहूदियों ने मारा डाला. ख़ालिद और ज़ेनब जन्नत चली गयीं. मैं तनहा रह गयी...मुझे मेरी बहनें वापस ला दो. मैं अपनी बहनों के बग़ैर नहीं रह सकती.

ग़ाज़ा पट्टी के अस्पताल में 6 साला समर की आवाज़ गूंज रही थी, ज़ख़्मियों की मरहमपट्टी और डॉक्टरों की भागदौड़ के दरमियान नन्ही-सी जान की चीख़ व पुकार हर किसी को अपनी तरफ़ खींच रही थी. वो हिचकियां ले रही थी, सिसक रही थी, रो रही थी और वो अपने बाप से बार-बार कह रही थी कि यहूदियों ने मेरी बहनों को मार डाला. अब मैं घर नहीं जाऊंगी. एक कम्बल में लिपटी समर की कमर में गोली लगी है, जिसके सबब उसका धड़ हमेशा के लिए अपंग हो गया है. उसकी बहन ख़ालिदा और ज़ैनब को उत्तरी ग़ाज़ा में इस्राइली टैंक ने निशना बनाया था. इस्राइली फ़ौज का कहना है कि शहरियों को निशाना नहीं बनाया जा रहा है, मगर हमास शहरी आबादी में मोर्चा बनाए हुए हैं और इसीलिए फ़िलस्तीनियों को इस तरह की कार्रवाई का सामना करना पड़ रहा है.

समर अस्पताल में दर्द से तड़प रही है. उसकी आंखों के सामने उसकी दुनिया तबाह हुई थी. उसकी मां कौसर उबैद के मुताबिक़ इस्राइली फ़ौज का एक टैंक उनके घर के सामने आया और उसके मकान की ऊपरी मंज़िलों पर गोले दाग़ दिये जबकि ख़ानदान वाले ग्राउंड फ़्लोर पर थे. बच्चों की दादी ने फ़ैसला किया कि अब जान बचाने के लिए भागना होगा, इसलिए उन्होंने मकान का दरवाज़ा खोला और सफ़ेद पर्चम लहराते हुए ये इशारा दिया कि मकान में सिर्फ़ औरतें या बच्चे हैं. इससे पहले कि ख़ातून संभल पातीं, इस्राइली फ़ौज ने अंधाधुंध फ़ायरिंग शुरू कर दी. बच्चों के वालिद महमूद ने लड़कियों को पीछे घसीट लिया, मगर उस वक़्त तक देर हो चुकी थी. महमूद ने एम्बूलेंस को फ़ोन किया, मगर एक घंटे तक एम्बूलेंस नहीं पहुंच सकी, तो लड़कियों के वालिद और चाचा ने हाथों में लाशें लेकर सड़क पर क़दम रखा. तक़रीबन 500 क़दम चलने के बाद वो इस्राइली टैंक के सामने से गुज़रे तो इस्राइली फ़ौजी उन से तेज़ी से भागने को कह रहे थे. उनकी आंखों में कोई रहम था, न शर्मिन्दगी. दो लड़कियों ने घर में ही दम तोड़ दिया था जिनकी उम्र 7 और 8 साल थी. उनकी मां का कहना था कि हमारा इलाक़ा हमेशा

ख़तरनाक रहा है, क्योंकि हमास के रॉकेटों की बारिश इसी इलाक़े से होती है और जब इस्राइली फ़ौज छापा मारती है, तो इलाक़े में रहने वाले सज़ा पाते हैं.

ख़ातून का कहना है कि जिस वक़्त इस्राइली टैंक ने मकान पर गोले दाग़े, उनके मकान के आसपास भी कोई हमास जंग-जू नहीं था, मगर इस्राइली फ़ौज पर हमास के जंगजुओं का इस क़दर ख़ौफ़ है कि हर साया उन्हें हमास का नज़र आता है. हम जंग-जू नहीं हैं, मगर इस्राइली फ़ौज पर ख़ौफ़ का ये आलम है कि उसकी नज़र में बच्चे भी प्रतिरोध कर सकते हैं. समर को इलाज के लिए शिफ़ा अस्पताल से बेल्जियम ले जाने की तैयारी की जा रही है.

बच्चों का दर्द और बेबसी

ग़ाज़ा के शिफ़ा अस्पताल के हर बिस्तर पर एक दर्दनाक कहानी है, बच्चों की हालत अस्पताल के डॉक्टरों के लिए परेशानकुन है. आईसीयू में 10 साला मुहम्मद ज़ैद चार दिन से कोमा में है. उसके सर में गोली लगी है. उसके क़रीब ही एक और बच्चा अहमद ग़ुफ़रान लेटा हुआ है. उसके ख़ानदान के 30 लोग एक पनाहगाह में बमबारी से हलाक हो गए थे. 5 साला अहमद की बाएं बाज़ू की हड्डी कई जगह से टूट गयी है. उसकी हड्डी को जोड़ने के लिए धातु की प्लेट का इस्तेमाल किया गया है. बच्चे के चेहरे पर दर्द था, मगर उसकी आंखें अपने रिश्तेदारों को तलाश कर रही थीं. अस्पताल में एक भी शख़्स ऐसा नहीं था, जो उसको बता सके कि अब दुनिया में वो तनहा रह गया है. उसके क़रीब ज़मीन पर बैठे एक शख़्स ने कहा कि ये बच्चा रात को कई बार डर कर उठता है और 'जंगी जहाज़, जंगी जहाज़' कह कर चीख़ने लगता है. उसके दिमाग़ पर जंगी जहाज़ों की बमबारी ने बहुत गहरा असर डाला है.

ग़ाज़ा पट्टी के कई ख़ानदान बमबारी में मिट गए हैं और कुछ ख़ानदान ऐसे हैं जिनके बच्चे ही ज़िंदा रह गए हैं. हैरत की बात तो ये है कि एक तरफ़ इस्राइल ये दा'वा कर रहा है कि हमास शहरी इलाक़ों से हमले करता रहा है, जिसके सबब जवाबी कार्रवाई में शहरी निशाना बनते रहे हैं, मगर शिफ़ा अस्पताल में कुछ ज़ख़्मी ऐसे हैं जिन्होंने बताया है कि इस्राइली फ़ौज ने एक इमारत में फ़िलस्तीनी औरतों और बच्चों को पनाह लेने को कहा और फिर इमारत को टैंक के गोलों से उड़ा दिया. बच्चे, बच्चे की ज़बान पर यहूदियों के ज़ुल्मों की दास्तान है. किसी ने अपने बाप, किसी ने भाई और किसी ने बहन को मरते हुए देखा है. अस्पताल में हर बच्चा एक ऐसी फ़र्याद कर रहा है जिसको पूरा करना किसी के बस में नहीं..

एक डॉक्टर के आंसू

शिफ़ा अस्पताल के डॉक्टर रईस अलइराक़ी लगातार 14 दिनों तक ज़ख़्मियों के ऑपरेशन में मसरूफ़ रहे. डॉ. रईस का अलमीया ऐसा है कि अस्पताल में पड़े

ज़ख़्मी और उनके रिश्तेदार भी रो पड़े. जब डॉ. रईस इमरजेंसी वार्ड में दाख़िल हुए, तो बच्चे बुरी तरह ज़ख़्मी हालत में स्ट्रेचर पर पड़े थे और ज़ोर-ज़ोर से 'बाबा, बाबा' पुकार रहे थे. जब डॉक्टर ने बच्चे की तरफ़ देखा, तो पहली नज़र में पहचान नहीं सका कि ये उनके बच्चे हैं. डॉ. रईस के मुताबिक़ ज़ख़्मों और ख़ून के सबब वो अपने बच्चों को भी पहचान न सके. चंद लम्हों तक तो वो हिल न सके. चूंकि उनके हवास जवाब दे चुके थे, वो बड़ी मुश्किल से अपने बच्चों तक पहुंच सके.

जब क़रीब आये तो मालूम हुआ कि उनके दोनों बेटे अब्दुर्रहमान और यासीन बुरी तरह ज़ख़्मी हैं. डॉ. रईस ज़ारो-क़तार रो रहे थे. दूसरों का इलाज करने वाला अपने बच्चों के ज़ख़्मों को देख कर बौखला गया था. उनके साथी डॉक्टरों ने दोनों बच्चों की मरहमपट्टी की. एक बच्चे का बायां हाथ टूट गया था. इसके बावजूद डॉ. रईस ने कहा, मैं ख़ुदा का शुक्र अदा कर रहा हूं कि मेरे बच्चे टुकड़ों में नहीं मिले. इनके सब अंग सलामत हैं, वर्ना मैं सुब्ह से शाम तक बच्चों की ऐसी लाशें देख रहा हूं, जो टुकड़ों में लायी जा रही हैं. लगातार 14 दिनों तक अस्पताल में रह कर ज़ख़्मियों की ख़िदमत करने वाले डॉक्टर के सामने जब उसके ज़ख़्मी बच्चे आए, तो वो सकते में आ गया था; मगर बाद में डॉ. रईस ने दोबारा इमरजेंसी वार्ड से ऑपरेशन थियेटर के दरमियान अपना काम शुरू कर दिया. वो ख़ुद नहीं जानते थे कि अपने ज़ख़्मी बच्चों को घर जाकर कब देख सकेंगे.

ग़ाज़ा पट्टी के एक मकान में 8 दिनों से क़ैद ख़ानदान के लोग जब बहुत दिल घबराया, तो मुस्तफ़ा अपनी बीवी और बच्चों के साथ छत पर आए. एक घंटे तक बच्चे छत पर खेलते रहे और जब बच्चे पानी की बोतल लेने नीचे उतरे, तो मकान दो धमाकों से कांप उठा. उनके मकान के सामने यूएनओ के स्कूल पर दो मिसाइल गिरे थे जिनमें 40 बच्चे मर गए थे. इस्राइल का कहना है कि हमास के जंगजुओं ने स्कूल के क़रीब से रॉकेट दाग़े थे, जबकि यूएनओ की स्कूल इंतिज़ामिया का कहना था कि सिक्योरिटी गार्ड्स ने जंगजुओं को स्कूल से दूर रखा था. जब स्कूल से बच्चों की लाशें शिफ़ा अस्पताल ले जाई जा रही थीं, तो शिफ़ा अस्पताल में डॉ. रईस की आंखों के आंसू तक ख़ुश्क नहीं हुए थे, मगर डॉक्टर ने अपने बच्चों को उनकी मां के हवाले किया और ज़ख़्मी बच्चों के ऑपरेशन के लिए चले गये. डॉक्टर का बड़ा बेटा जब होश में आया तो अपने बाप को आवाज़ें दे रहा था...बाबा...बाबा. मेरे बाबा कहां हैं? क्या मेरे बाबा ज़ख़्मी हो गए हैं? उसकी मां समझाने की कोशिश कर रही थी, मगर बच्चा रो रहा था. उसके सामने दूसरा भाई ज़ख़्मी पड़ा था. उसके सीने में एक छर्रा घुसा हुआ था जिसे निकालना ख़तरनाक था.

अस्पताल के बिस्तर पर ज़ख़्मों से कराहते 15 साला उबैद की कहानी सब से दर्दनाक है जिसने बताया कि इस्राइली फ़ौज ने कई ख़ानदानों को एक बड़े मकान में इकट्ठा होने का हुक्म दिया. तक़रीबन 90 व्यक्ति जिनमें औरतें व बच्चे भी थे, जमा हुए. जब तीन मिसाइल गिरे. मकान में हर तरफ़ ख़ून, इंसानी अंग और गोश्त बिखरा

पड़ा था. कई लोगों के सरों के परख़चे उड़ गए थे.

उबैद के मुताबिक़ कुछ लम्हों बाद जब उसको होश आया तो दाख़िली दरवाज़े से एक मुर्ग़ी अंदर आयी और एक शख़्स का भेजा खाने लगी, तो मैंने मुर्ग़ी को भगाया और ज़मीन पर घिसटते हुए दरवाज़े तक जाकर उसे बंद किया. कुछ दूरी पर मेरे दोनों भाई याक़ूब और अब्दुल्लाह इस क़दर बुरी तरह ज़ख़्मी पड़े थे कि उनसे कुछ बोला भी नहीं जा रहा था. इस्राइली फ़ौज की दरिंदगी की दास्तान ने दुनिया को लरज़ा दिया है, मगर हैरत की बात ये है कि दुनिया कुछ करने से क़ासिर है. अब तक डेढ़ हज़ार हलाकतों में तक़रीबन 400 बच्चे हैं और 6 हज़ार ज़ख़्मियों में ढाई हज़ार बच्चे हैं. दुनिया सिर्फ़ तमाशाई बनी हुई है और इन कहानियों पर सिर्फ़ अफ़सोस का इज़हार कर रही है. यही है बेहिसी और लाचारी जिसने फ़िलस्तीनियों को दुनिया की बड़ी ताक़तों ने मायूस और नाउम्मीद कर दिया है. ❑

(नई दुनिया वीकली, 2 ता 8 फ़रवरी, नई दिल्ली-13)

उर्दू दुनिया के झरोखे से

- माहनामा 'आजकल' (उर्दू-एडि. ख़ुर्शीद अकरम) का फ़रवरी 09 शुमारा उर्दू अफ़सानों पर मुश्तमिल है जिसमें रतनसिंह, आबिद सुहैल, सलाम बिन रज़्ज़ाक़, ज़किया मशहदी, फे.सीन. एजाज़, सिद्दीक़ आलम, साजिद रशीद, सय्यद मु. अशरफ़, सादिक़ा नवाब सहर, आसिफ़ फ़र्रूख़ी और ख़ालिद जावेद के अफ़साने शामिल हैं.

- मीरा रोड (थाने) से तिमाही 'इस्बात' का तीसरा शुमारा मंज़रे-आम पर आया है, जिसके मुदीर अश्अर नज्मी हैं. ये शुमारा आधा, मर्हूम आदिल मन्सूरी को समेटे हुए है, तो बक़िया प्रो. गोपीचंद नारंग के क़ज़िये को घेरे हुए है, जिसका ताल्लुक़ इमरान शाहिद भिंडर के उस भंडाफोड़ से है जिसमें प्रो. नारंग पर चोरी का इल्ज़ाम सुबूतों के साथ लगाया गया है. 'नया वरक़' के साजिद रशीद से भी अश्अर नज्मी को शिकायत है. शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी बनाम प्रो. गोपीचंद नारंग का मुआमला दिनों-दिन उर्दू रिसालों को रौनक़ बख़्श रहा है.

- श्रीनगर से 'बज़्मे-अदब' नाम से अदबी किताबी सिलसिला शुरू हुआ है. एडिटर इब्ने-इस्माईल हैं. उन्होंने हर्फ़े-अव्वल यानी एडिटोरियल में ज्ञानपीठ एवार्डयाफ़्ता शाइर रहमान राही पर रौशनी डाली है और ये राज़ खोला है कि रहमान राही से ख़ुद कश्मीर वाले पूरी तरह बाख़बर नहीं हैं. उन पर ये भी इल्ज़ाम है कि उनकी कश्मीरी शाइरी पश्चिमी शाइरी का चर्बा है. गोया हर रिसाले का अपना दर्द है. वैसे ये पांचवां शुमारा तन्ज़ो-मिजाह की तख़्लीक़ात से पुर है.

- सहाफ़ी और तन्ज़निगार नुस्रत ज़हीर दिल्ली से एक ज़ख़ीम रिसाला 'अदबसाज़' निकालते हैं. अदबसाज़ का हर शुमारा मवाद के एतबार से भरपूर होता है और बड़ी तैयारी और मेहनत से शाए' किया जाता है. शुमारा-8, 9 में 'सेमिनार' के तहत उर्दू के मसाइल पर बहस की गयी है. हासिले-शुमारा मज़्मून 'हिंदुस्तान

के अंग्रेज़ी निज़ामे-तालीम में उर्दू निसाब का मस्अला' (अतहर फ़ारूक़ी) भी शामिल है. 'कथन' की तरह 'अदबसाज़' का हर शुमारा किसी एक मौज़ू' पर मर्कूज़ होता है. 'गोश-ए-इख़्तिलाफ़ के सफ़्हात' असहमतियों के लिए वक़्फ़ किए गए हैं जिसमें हर फ़िक्र का शख़्स अपनी बात बेबाकी से रख सकता है. मगर छेड़े-ख़ूबां को यहां भी हवा दी जाती है. बहरहाल उर्दू रिसालों में 'अदबसाज़' का एक अलग मुक़ाम है. यों ज़ुबैर रिज़वी का 'ज़ेहने-जदीद' भी उर्दू का एक बड़ा रिसाला है जिसमें फ़ुनूने-लतीफ़ा पर ताज़ा सामग्री पेश की जाती है.

- मशहूर शाइर फ़िज़ा इब्ने फ़ैज़ी का 17 जनवरी 09 को इन्तिक़ाल हो गया. वो 86 बरस के थे. मऊनाथ भंजन में पैदा हुए और सारी उम्र वहीं गुज़ारी. उनके छह शेरी मज्मूए शाए' हुए. इधर चंद बरसों से वो ख़ामोश हो गए थे.

- विविध भारती की नींव रखने वाले मशहूर शाइर रिफ़अत सरोश कई बीमारियों से जूझते रहने के बावजूद आख़िरी दम तक फ़आल रहे. पिछले दिनों उर्दू अकादमी, दिल्ली और क़ौमी उर्दू कौंसिल ने उनकी याद में ताज़ियती जलसे किए.

- 16 जनवरी 2009 को उर्दू अकादमी दिल्ली की तरफ़ से मुशाअरा जश्ने जुम्हूरीयत लाल क़िले पर मुन्अक़िद किया गया जिसमें गुलज़ार देहलवी, बशर नवाज़, मख़मूर सईदी, मुमताज़ राशिद, मलिकज़ादा मंज़ूर अहमद, मुनव्वर राना समेत कई शाइरों ने शिरकत की.

- कश्मीरीलाल ज़ाकिर के नॉवेल 'आख़िरी अध्याय' (पैंग्विन बुक्स) का रस्मे इज्रा इंडिया हेबिटेट सेंटर में हुआ.

- उर्दू डेवलपमेंट ऑर्गेनाइजेशन की सालाना रिपोर्ट में ये बताया गया है कि उर्दू ज़बान के वुजूद व तरक़्क़ी के लिए अब तक 43 मुक़द्दमे हाईकोर्ट में दायर किये जा चुके हैं. सुप्रीम कोर्ट में पांच मुक़द्दमे पांच जजों की आईनी-बेंच में ज़ेरे-समाअत हैं.

- क़ौमी कौंसिल बराए-फ़रोग़े-उर्दू ने महाराष्ट्र उर्दू अकादमी और अंजुमने-इस्लाम के सहयोग से मुंबई में 17 से 25 जनवरी 09 तक दसवां कुलहिंद उर्दू किताब मेला लगाया. इस मेले के दौरान रोज़ाना अदबी और कल्चरल प्रोग्राम भी हुए.

- उर्दू और गुजराती क मशहूर व मुमताज़ जदीद शाइर आदिल मन्सूरी का न्यूजर्सी

(अमेरिका) में 6 नवम्बर 08 को दिल का दौरा पड़ने से इन्तिक़ाल हो गया. वो आर्टिस्ट भी थे. साले-रवां में उन्हें गुजरात उर्दू अकादमी का वली गुजराती एवार्ड दिया गया, जिसकी उर्दू के एक हलक़े ने मुख़ालफ़त भी की, क्योंकि गुजरात सरकार के नरेन्द्र मोदी 2002 के सानेहा के ज़िम्मेदार और संगीन फ़िरक़ापरस्त शख़्स माने जाते हैं.

- प्रो. मिर्ज़ा ख़लील अहमद बेग ने मर्हूम ज्ञानचन्द जैन की विवादित किताब 'एक भाषा : दो लिखावट, दो अदब' के जवाब में 'एक भाषा–' उन्वान से एक किताब एजुकेशनल बुक हाउस, अलीगढ़ से छपवायी है जिसमें जैन साहिब के एतराज़ात का तफ़्सील से जवाब दिया गया है.

- अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी की उर्दू अकादमी के तहत उर्दू ज़बांन व अदब की तालीम के मौज़ू पर तर्बीयती प्रोग्राम हुआ. बेसिक शिक्षा अधिकारी डॉ. मुकेश कुमार सिंह ने कहा कि किसी भी ज़बान को महब से जोड़ कर नहीं, बल्कि एक मज़्मून की शक्ल में देखना चाहिए.

- मौलाना आज़ाद नेशनल उर्दू यूनिवर्सिटी, हैदराबाद के वी.सी. प्रो. ए.एम. पठान ने सेण्ट्रल लाइब्रेरी के तीन रोज़ा किताब मेले का उद्घाटन करते हुए यक़ीन दिलाया कि उर्दू में कोर्स की किताबों की तैयारी के लिए टीचरों को तमामतर सहूलतें दी जाएंगी.

- उर्दू दुनिया की तीसरी ज़बान है, जो सबसे ज़्यादा बोली जाती है, ये बात जम्मू यूनिवर्सिटी के वी.सी. वरुण साहनी ने 'रियासत जम्मू व कश्मीर में उर्दू के माज़ी, हाल और मुस्तक़बिल के मौक़े पर कही.

- देहली यूनिवर्सिटी के अरबी डिपार्टमेंट में अज़हर यूनिवर्सिटी (मिस्र) के प्रो. अहमद क़ाज़ी ने अरबी ज़बान की अहमियत और मिस्र में अफ़्सानानिगारी पर एक तफ़्सीली लेक्चर दिया.

- मध्य प्रदेश उर्दू अकादमी ने क़ौमी कौंसिल बराए-फ़रोग़े-उर्दू के सहयोग से 27 जनवरी 09 को मुल्ला रमूजी संस्कृति भवन में उर्दू जबानो-अदब पर सेमिनार मुन्अक़िद किया. ❑

कैलाश बनवासी
41, मुखर्जी नगर
सिकोलाभाठा, दुर्ग (छ.ग.)

17.2.09

आदरणीय भाई हसन जमाल जी,

शेष-51 आपने भेजने की कृपा की, इसके लिए आपका हृदय से आभारी हूं.

पहले चाहा कि एक रस्मी आभार पोस्टकार्ड डालकर छुट्टी पा लूं. लेकिन यह इस अंक के प्रति अन्याय ही होगा. बहुत महत्त्वपूर्ण सामग्रियां जुटाई हैं आपने. ख़ास तौर पर हमारे इस समय को लेकर गंभीर; मौज़ूं आलेख.

शुरूआत आपकी 'गुजारिश' से ही करें. मीडिया को लेकर आपकी चिंता और प्रतिक्रिया सही है, वे अपने सरोकारों को खो चुके हैं. TRP रेटिंग ही उनके लिए सबसे महत्त्वपूर्ण है. इनकी कारगुज़ारियों पर तो समूची किताब लिखी जा सकती है. आपकी यह बात बहस तलब है कि हिंदुस्तान का नौजवान तबक़ा इस क़दर ख़ुदग़रज़, ग़ैर ज़िम्मेदार, लापरवा, बेशुऊर और बदतहज़ीब है कि इससे बेहतर उम्मीदें वाबस्ता की ही नहीं जा सकतीं...' और मैं समझता हूं, नौजवान पीढ़ी के लिए ऐसी प्रतिक्रिया आप जैसे व्यक्ति से अकारण नहीं हो सकती. युवा, जिन पर हम कल के बेहतर समाज की उम्मीदें करते हैं, हमारे सामने कुछ इसी तर्ज़ पर है कि नाउम्मीद होना पड़ता है. और वे तो अपने चेटिंग, डेटिंग और मेटिंग के अलावा कुछ और नहीं देख रहे. यह शायद अचानक मोबाइल से मिली आज़ादी का नतीजा है. वे इसके दुरुपयोग में ज़्यादा लगे हैं. जैसे लड़कियों को लें, उन्हें इससे ख़ुद को व्यक्त करने, अपनी पहचान बनाने का महत्त्वपूर्ण ज़रिया मिला है, लेकिन जो हो रहा है, वह हम सबके सामने है. पर हसन जमाल साहब, इन सबके पीछे भी इसके पहले की पीढ़ी का ही दोष है, अगर वह इतनी ख़ुदग़रज़ नहीं होती तो यह पीढ़ी ऐसी नहीं होती. शायद पूर्ववर्ती पीढ़ियों ने ही इन्हें ऐसा गढ़ा है. बाक़ी काम तो हमारी 'उत्तर-आधुनिक', 'ग्लोबल विलेज' हो जाने की नीतियों ने कर दिया है. आपकी यह बात बिल्कुल दुरुस्त है कि 'हिंदुस्तान का विकास दर कितना ही बढ़ जाए, वो बेहतर मुस्तक़बिल का इशारिया नहीं हो सकता.' और बेहद खीज से यह कहना कि 'पूरा निज़ाम गल-सड़ गया है, पर किसी को चिंता करने व पहल करने की फ़ुर्सत नहीं है. मुझे कहने दीजिए कि हम एक गुलाम क़ौम है. हमें हमेशा गुलामी ही रास आती है. इस मुआमले

में ज़ेहनी गुलामी सबसे ज़्यादा ख़तरनाक है.'

मेरा ख़याल है, आपकी यह तीखी प्रतिक्रिया मिडिल क्लास को केंद्र में रखकर है. वह वही हो चुका है जिसका आप ज़िक्र कर रहे हैं. और जिस युवा पीढ़ी की हम-आप चिंता कर रहे हैं, उन्हीं की संतानें हैं, जो पूरे मुल्क की हवा को अपनी बदशऊर आज़ादी से दूषित कर रहे हैं. और सोचें तो मिडिल क्लास आज है क्या? वह लगभग पूरे तौर पर सत्ता, सुविधा और रुपयों की गुलाम है. उसके ज़ेहन में इसके अलावा कुछ नहीं होना ही इस दुरावस्था का एक बड़ा कारण है. राजनीति, राजनीतिज्ञ जैसे भ्रष्ट हैं, उनसे कोई उम्मीद करना ही बेमानी है. लेकिन आज का अधिसंख्य युवा वर्ग और मिडिल क्लास अपनी सुविधाओं की ख़ातिर इनके इशारे पर नाच रहा है, चाहे दंगे कराने हों या बूथ कैप्चर करने हों. बाहुबलियों का सत्ता, धर्म, पुलिस, न्याय सबसे ख़तरनाक गठजोड़ है और बड़ी संख्या पिस जाने को विवश है...

सवाल है, मुक्ति का रास्ता कहां है, कैसा है, किनसे हैं?

मैं किसी झूठे विश्वास में नहीं रहना चाहता कि एकाएक सब बदलने वाली शक्ति का आविष्कार हो जाएगा. भ्रमों को तोड़ देना बहुत ज़रूरी है. लेकिन बहुत अल्प ही सही, संघर्षशील लोग हैं और अपनी सीमित ताकत के बावजूद जूझ रहे हैं. हार रहे हैं, फिर भी लड़ रहे हैं. क्या ये बातें हमें ताक़त नहीं देतीं? संघर्ष अच्छे दिनों को लाने का बंद नहीं हो गया है. जहां ये हैं, हमारी उम्मीदें क़ायम हैं. लेकिन ये उम्मीद मिडिल क्लास व्यक्तित्व वाले दलालों से तो बिल्कुल नहीं है, जो हर तरह का चेहरा गढ़ लेने का हुनर रखता है. अक्सर इन चेहरों से भी बड़ा धोखा मिला है. ये हमारे बीच हमारे साथ रहकर उनके पक्ष में काम करते हैं, जिसकी बड़ी क़ीमत, पद, पुरस्कार बटोरते हैं.

आप भी साहित्य में अरसे से 'अपने' लोगों को देख ही रहे हैं, गिरगिट भी शरमा जाए, इतना हुशियार हो चले हैं. कवि गोरख पांडेय ने इन्हीं के लिए 'समझदारों का गीत' लिखा है. यह शायद हमारे समय की बड़ी ज़रूरत है कि अपना ईमान बचाए रखकर इस लड़ाई में योग करें. महत्त्वपूर्ण पत्रिका निकाल कर आप अपनी भूमिका का निर्वाह कर ही रहे हैं. पर आप हिंदी की ही बहुपठित पत्र-पत्रिकाओं को देखिए, उनमें कहां इस जज़्बे की तड़प दिखती है! यह उनका व्यवसाय है, विज्ञापन हथियाने के हर हथकंडे अपनाकर अपनी पत्रिका को अंधा, गूंगा और बहरा बना रखा है और साहित्य में नाम कमा रहे हैं. पद, पुरस्कार इन्हीं के नाम हैं....लेकिन मुझे लगता है, एक बड़ा साहित्यिक हलक़ा इनकी कारगुज़ारियों से परिचित है और नकार रहे हैं—अब.... मुझे लगता है जमाल जी, इनके राज कुछ दिन और चल जाएं, फिर तो इन्हें कोई पूछने वाला नहीं होगा. मुझे यह देखकर अच्छा लगता है कि नये लोग अच्छी संख्या में साहित्य की दुनिया में आ रहे हैं और वे महत्वाकांक्षी उस अर्थ में

नहीं हैं, कि संगठन से जुड़ने का मतलब पुरस्कार का भीतरी लालच होता है. अब साहित्यिक संगठनों को वैसी सुविधा भी हासिल नहीं कि उपकृत करने के नाम पर लेखक-कवियों को अपने पीछे-पीछे चलाए रखें. आज परिदृश्य ज़्यादा साफ़ है. बहुत से लेखकों से संवाद से यह पाता हूं कि संगठन की 'राजनीति' से उनके लेखन को कोई फ़ायदा नहीं होता. वे महज अच्छा लिखने में विश्वास करने लगे हैं. यह भी कम अच्छा बदलाव नहीं है हमारे लिए. उनका विवेक अगर अच्छी चीज़ें साफ़-साफ़ तय कर रहा है, तो यह स्वागत-योग्य है.

एक और बहुत महत्त्वपूर्ण मुद्दा आपने उठाया है—पाठकों की कमी का. आपने बिल्कुल सही कहा है कि 'पाठकों से हम एक दूरी क़ायम रखते हैं, उनको अपने क़रीब लाने की कोशिश नहीं करते, बिना जुड़े हम उन्हें जोड़ना चाहते हैं.' यह पहले से स्थापित लेखकीय प्रवृत्ति है—बुर्जुआ सोच है यह. यह शासन की चाटुकारिता में लगे लोगों का रवैया है. एक अच्छा लेखक कभी ऐसा कर ही नहीं सकता. वह पढ़ने के लिए लिखता है. 'कला कला के लिए' वाली थ्योरी पाठक कचरे में फेंक चुका है. वह उसे ही पूछेगा, सराहेगा, जिसमें उसकी अपनी बात हो, सच्ची हो, वर्ना बड़े-बड़े कवियों की किताबों का एक संस्करण आज बिकना मुहाल है, उनकी ऊँची कलावादिता उसके किसी काम की नहीं. वह संग्रह उलट-पुलट के धर देगा...दूसरा संकट, कि पत्र-पत्रिकाओं की इतनी संख्या में होने के कारण अच्छा-बुरा सब खप रहा है. कारण कि ज़्यादातर संपादक 'रचना' की तमीज़ ही नहीं जानते. वे महज़ विज्ञापन जुटाकर घर ख़र्चा चलाने के काम में लगे हैं. ऐसे जुगाडू संपादकों की आज चल पड़ी है. शासन को क्या चाहिए, अपना गुलाम. तो इन लोगों ने अपनी पूंछ हिलाते हुए प्रेमचंद के उस प्रसिद्ध कथन को उलट दिया है जिसमें साहित्य राजनीति के आगे जलने-चलने वाली मशाल होती है. इन्हें अपनी पत्रिकाएं बेचनी थोड़ी होती है. जो पाठक की ज़रूरत का ध्यान रखेंगे. ये सिर्फ़ अपना हित साधने वाले लोग हैं. 200-250 पत्र-पत्रिकाओं में 200 से कम ये नहीं होंगे. 10-20 फ़ीसदी पत्र-पत्रिकाएं अपनी रचनात्मक ईमानदारी को बचाए रख सकी हैं. पत्रिका चलाने की व्यावसायिकता से इनका समझौता है.

आपकी अंतिम महत्त्वपूर्ण बात लेखक संगठनों को लेकर है, जिसमें आपने सबको एक तराज़ू में तौल दिया है. यह उचित नहीं है. कभी देश में सबसे अगुआ रहे सांस्कृतिक संगठन प्रगतिशील लेखक संघ के राजस्थान में दो फाड़ की ख़बर से आश्चर्य नहीं हुआ है. बात आपने सही की है, किस्सा कुर्सी का. संगठनों की अपनी कुछ कमज़ोरियां अगर बढ़ती जा रही हैं तो भला नहीं हो सकता. लेकिन इसके बावजूद सभी संगठन वैसे नहीं हैं. यह टिप्पणी अतिरेक है. मैं ख़ुद पहले प्रगतिशील लेखक संघ का सदस्य था. लेकिन वर्चस्ववादी खेल के चलते और नीतियों के चलते वहां

रहना अपने को ज़ाया करना लगने लगा. पिछले 10-12 बरस से दुर्ग–भिलाई में हम कुछ साथी मिलकर जन संस्कृति मंच की इकाई चला रहे हैं. हम चंद लोग ही हैं, हमें हमारी वैचारिकी एक करती है, न कि कोई लालच. मुझे लगता है, जो लोग साहित्यिक महत्वाकांक्षा लिए आते हैं, वे ही संगठन का नुक़्सान करते हैं. वे संगठन को सीढ़ी की तरह इस्तेमाल कर सुविधा वाली जगह में हट जाते हैं. लेकिन ऐसा बिल्कुल नहीं है कि ये भेड़ हैं. सच्चा अदीब कोई आसमान से नहीं टपक जाता. वह लगातार लोगों के बीच रहकर, संघर्ष से ही निकल कर आता है. और फिर ऊपर आपने जिस पाठक को क़रीब लाने की बात कही है, वह तो लेखक ही करेगा, उसका एजेंट नहीं. दूसरे, माहौल की जड़ता, सड़न को दूर करने के लिए एक ठोस हस्तक्षेप की ज़रूरत होती है, वह अकेले लेखक के बस में नहीं. संगठन को मैं इसी हस्तक्षेपकारी भूमिका में देखता हूं. अगर उस संगठन में स्वार्थ राजनीति हावी है तो यह उस संगठन विशेष की समस्या है, न कि संगठन (सभी) की. आप भले संगठन को भेड़ का रेवड़ कह लें, आपकी मर्ज़ी, लेकिन जो इसे बड़े उद्देश्यों से संचालित कर रहे हैं, मैं उन्हें शक की नज़र से नहीं, सम्मान की नज़र से देखता हूं. और मुझ जैसे 20-22 साल से साहित्य की दुनिया में थोड़ा-मोड़ा काम कर रहे लोगों को यह उन सारे बदलावों के लिए ज़रूरी लगता है, जिसका आप रोना रो रहे हैं....तो सिक्के के दूसरे पहलू की तरफ़ भी बहुत ध्यान से देखा जाना ज़रूरी है.

पत्र ख़ासा बड़ा हो गया. इस अंक में हसन कमाल का नौशाद पर उम्दा लेख है. शमीम हनफ़ी का गंभीर विश्लेषण है, या कमलाकांत त्रिपाठी का विवेचन–सब बहुत ज़रूरी और महत्त्वपूर्ण लगे हैं. ❑

कैलाश बनवासी

शेष

'शेष' का ताजा अंक (51) मिलते ही काफ़ी कुछ पढ़ गया हूँ और दूसरी भाषा में लिखे गए कई मज़ामीन से वाबस्ता हुआ जैसे अदब में इंसान दोस्ती, हुसेनी ब्राह्मण, अबकी बार... इनमें जो बयान किया गया है वो दिलोदिमाग़ पर दस्तक देता है. आपकी पत्रिका में उर्दू ज़बान में महत्वपूर्ण लिखे हुए को ही स्थान मिलता है. कहानी से मुद्दत से जुड़ा हुआ हूं. जब 'नादिर सिक्कों का बक्सा' जैसी कहानी से गुज़रता हूं तो लगता है कि धुंध और अंधेरे में खड़ा हूं और कुछ भी पकड़ में नहीं आ रहा है. अपनी पाठकीय समझ व क्षमता पर शक होता है तब. आपकी पत्रिका से गहरा लगाव है, किन्तु यह भी सच है कि 79 साल की उम्र में बहुत-कुछ छूटता, बिखरता जा रहा है.

हृदयेश, 136/2 बक्सरियाँ, शाहजहांपुर-242 001

इस अंक में काम की कई चीज़ें हैं, मैं इन्हें संज़ीदगी से पढूंगा—फ़हमीदा रियाज़ का सफ़रनामा और शमीम हनफ़ी का मज़्मून उर्दू में पढ़ चुका हूं. टोरण्टो के बेदारबख़्त से मैं मिला हूं, उनकी लाइब्रेरी देखी है. उनकी तहरीर व तजवीज़ पसन्द आई—किताबें अब मसला बन गई हैं. कुछ तो सोचना होगा.

अली अहमद फ़ातमी, 229-ए, लूकड़गंज, इलाहाबाद-1

फ़हमीदा रियाज़ को 1986 के लखनऊ में आयोजित प्रलेस के पचास साला जलसे में देखा था. तब से उन्हें निरन्तर ख़बरों और पत्र-पत्रिकाओं में पढ़ता-जानता रहा. 'शेष' के इस अंक में उनका रिपोर्ताज़ 'अब की बार' पढ़ने को मिला. उनकी ज़िन्दगी के जो सात बरस यहां गोया भटकते हुए बीते, उन्हें मैं देर तक महसूस करता रहा. जलावतनी में जब 1981 में वे यहां आई थीं, तब से हिन्दुस्तान बहुत बदल गया है. उन दिनों उन्हें हिंदी वालों का उर्दू शब्दों का तलफ़्फ़ुज़ अखरता था, पर आज तो हिंदी की बोली और भाषा में अंग्रेज़ी के शब्दों की बेशर्मी के साथ भरमार हो गई है. अब तक लखनऊ के क़ैसरबाग़ की सफ़ेद इमारतें, गुम्बद और मीनारों पर कुछ और काई चढ़ चुकी है. उमरावजान वाला तवाइफ़ों का पुराना मुहल्ला भीड़ में कहीं गुम हो गया है. चांदी के वरक़ भी अब नक़ली बनने लगे हैं. फ़हमीदा, शायद तुम ही नहीं हर बुद्धिजीवी कन्फ़्यूज़्ड होता है. आपने फ़िराक़ साहब को जिस तरह याद किया है, उसे पढ़ कर तो बार-बार मेरी आंखें भर आईं. कराची में उनकी याद में चार रोज़ा

जश्न के पीछे आपका उनसे दिली लगाव...और उसकी रिपोर्ट उन्हें देने आप इलाहाबाद आईं जब फ़िराक़ साहब मर चुके थे. ऐसी बेपनाह मुहब्बत! आप फ्रायड को बहुत करारा जवाब दे पाई हैं. फ़िराक़ की तमाम ख़ामियों के बावजूद उनके लिए आपके दिल में जो जगह है वह बहुत बड़ी है.

क्या सच ही कहा था रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कि हिंदुस्तान के लिए यूरोप के मॉडल पर क़ौमी रियासत बनाने का ख़याल ऐसा है, जैसे स्वीट्जरलैण्ड नेवी बनाना चाहे, और यह भी कि क्या रणधीरसिंह जी का यह कहना कि नेहरू इतने बड़े टास्क के लायक़ नहीं थे. उनमें तन्ज़ीमी सलाहियत तो थी ही नहीं. यह बताते हुए उनका अटक-सा जाना और उदासी से हंसना भी शायद बहुत कुछ कह जाता है.

एम, सीन और काफ़ का दिलचस्प, लेकिन कलेजा हिला देने वाला वाक़िया ज़िन्दगी के रिश्तों की अजीब दास्तान है. जीवन की डोर कब कहां किस तरह जुड़ती, टूटती और गंठीली हो जाती है—कौन जाने!

यह रिपोर्ताज़ पढ़ कर तो मैं बहुत-बहुत ख़ामोश हो गया. जानना चाहूँगा कि फ़हमीदा को इलाहाबाद में मिली कमला श्रीवास्तव—सीपीएम वर्कर और शाइरा अब कहां है और अंग्रेज़ ज़माने के उनके नाना डिप्टी कलक्टर का नाम क्या था जो नैनीताल, देहरादून, पीलीभीत जगहों पर तैनात रहे...

सुधीर विद्यार्थी, पवन विहार, पो. रुहेलखण्ड विश्वविद्यालय, बरेली-243006

'शेष' का ज़नवरी-मार्च 09 अंक मुझे हमारे 'आजकल' उर्दू के संपादक ख़ुर्शीद अकरम जी से मिला. पन्ने पलटे इसके, फिर धीरे-धीरे इसमें रमना शुरू किया. देवांशु पाल की कविता देश के हर चौक की कहानी कहती लगती है. इंतिज़ार हुसेन के 'हुसेनी ब्राह्मण' शीर्षक ने थोड़ा चौंकाया और नतीजा यह निकला कि ब्राह्मण कभी नहीं बदलते, चाहे वे ख़ुदा के संपर्क में क्यूं ना आ जाएं. दो हिस्सों में बंटे संपादकीय के पहले भाग से सहमत होना थोड़ा मुश्किल है. तकनीकी विकास का दुरुपयोग हमीं करते हैं. और बेशक पिछले साठ बरसों से जुम्हूरियत के नाम पर जम्बूरे उछलकूद मचा रहे हों, लेकिन जुम्हूरियत का विकल्प क्या है? यह आपको बताना होगा.

'शेष' की सबसे अच्छी बात जो लगी वो है, दो भाषाओं के बीच पुल तैयार करना. इससे दोनों की आवाजाही बढ़ेगी. मैं कामना करता हूं कि 'शेष' दिन-प्रतिदिन सृजन के विकास की साक्षी बनेगी.

कैलाश दहिया, संपादक—प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार

यही तो ख़ूबी है कि एक हसन जमाल भी है, खुला-खरा बंदा, कुछ तो फ़ितरती कुव्वत व ख़ासियत वाला, अपने 'शेष' की बनावट और अपनी क़लम की लिखावट के रूपों में भी! यह भी हिम्मत व हौसले की बात है कि हसन सुनाता है और सुनता

भी है (शेष : जुलाई-सितम्बर, 08 : 'गुज़ारिश' और शिवरतन थानवी की नसीहत व राजेन्द्र यादव की फ़ज़ीहत)! काश, आज कोई 'जंगलराज', 'अवाम बेलगाम', 'भारत का ओबामा' के अंदाज़ में लिख सके और आज़ादी व डेमोक्रेसी की असलियत क्या होनी चाहिए, यह बता सके, चाह सके! प्रोटेस्ट को पसंद करना, पचाना व कर्म में रचाना आसान नहीं है, कि कब हमारे ही कबीर और अभी गांधी भी कैसे ऐसे ही थे! तब, प्रभाष जोशी हों या हसन जमाल, हाथी के पांव में ये पांव भी हैं कि अपनी-अपनी तरह से चलायमान हैं!

गीता से और क़ुर्आन से भी, हमारे पास त्रिगुण की सत-रज-तम और सभ्यता या व्यक्तित्व के दैव या असुर प्रकार के होने की कसौटियां भी हैं कि कौन क्या है इसे जांचा-परखा जा सकता है. कृष्ण अर्जुन को ऐसा ही कुछ कहते हैं–'कोरे आदर्श की अपेक्षा मत कर, उपदेश बहुत दिये जाते हैं, पहले असुर व तमस को पहचान और इन पर अपना शासन-अनुशासन बनाकर इस जीवन संग्राम को साध व सिद्ध कर.' तब हसन जमाल से शिकायत कैसी? हां, संवाद अवश्य होना चाहिए.....'वादे-वादे जायते तत्वबोधः'.

इन्हीं दिनों अरविन्द अडिग का उपन्यास The White Tiger भी पढ़ा. आज के हिन्दुस्तान पर क्या ख़ूब कमेन्ट्री है कि लिखे तो हसन जमाल की क़लम भी ऐसा ही लिख सके, भले ही बुज़ुर्ग ख़ामियां ही बताते रहें और उपदेश भी देने लगें, जैसा कि ख़ुशवंतसिंह ने लिखा कि अरविन्द अडिग को इंडिया की अच्छाइयां भी दिखनी चाहिए थीं. 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे' में ख़ुशवंतसिंह भी एक कि कब किनको बख़्शा है और कितना अपनी क़लम को बेलगाम भी चलने दिया है?

एक बात की तरफ़ मेरा भी ध्यान जाता है. मुसलमान हसन जमाल की ज़ेहनियत में क्या एक ताक़त नहीं, पर कमज़ोरी या कहूं संकीर्णता है? हिन्दुस्तान में मुसलमान के जैसे भी हालात हैं, उसके लिए क्या ख़ुद ही ज़्यादा ज़िम्मेदार नहीं हैं? यहां मुसलमान के तुलनात्मक व औसत हालात भी इतने बदतर नहीं हैं, भले ही ज़रूरत बहुतों की बहुत ज़्यादा भी है. मैंने इस पर सच्चर कमेटी को भी ख़ूब लिखा था और मुस्लिम जनसंख्या पर भी, पर जब समय पर इतनी मुस्लिमपरस्ती हावी की जा रही हो, तो मेरा संवाद भी किससे हो सके? क्या 'अपनों' से, ऐसा ही 'अप्रिय पर हितकारी' संवाद स्वयं हसन भाई का भी हो सकता है; और हमारे बीच, परस्पर भी? सवाल भी उठाया है कि भारत में कोई मुसलमान भी ओबामा बन सके? हां, संभव है, यदि कि यहां कोई मुसलमान ओबामा भी बन कर दिखाए, जबकि भारत में मुसलमानी मांगें कितनी ख़ुदग़र्ज़, ज़ोरांमर्दी जैसी और कितनी जायज़ भी हैं? हिन्दू तो यहां किसी मुसलमान को भी सर्वोच्च पद पर स्वीकार कर लेंगे, पर यदि नरेन्द्र मोदी में यहां लोग भारत का ओबामा जैसा देखें तो क्या मुसलमान इसे स्वीकार कर सकेंगे?

तब एक नज़रिया यह भी है...ग्लोबलाईजेशन के दौर में, कितने ही अंधड़ों-अंधेरों के बावजूद यह भी एक 'सिल्वर लाईनिंग' है कि मुस्लिम कौन्सियसनेस आज इतनी ज़्यादा एक्टिव-रिएक्टिव-प्रोएक्टिव है कि इसका चुनौती मान कर निर्माणात्मक उपयोग हो, तो क्या ही शानदार नतीजे हासिल किये जा सकते हैं! स्वयं मोहम्मद साहब जैसा समाज निर्माता भी इतिहास में कोई नहीं रहा है, इतना दुनियावी और इतना दीनी; और 'इस्लाम' कि जिसके प्रमुख गुण-विशेषण रहे हैं... *'शैतान नहीं तू बन इंसान/नेकी, रहमदिली, ईमान.'* अतः संकीर्णता के प्रभाव या दबाव में जो भी जीएगा उससे ख़ुद का और दुनिया का भला होने वाला नहीं है; और वह भी तब जब हमने अपने ही विनाश की ताक़तों को कितना बढ़ा लिया है? *आपसी समझ* का संवाद और *आपसी सहकार* का समाज बनाए बग़ैर हालात बदलेंगे व बेहतर होंगे तो कैसे? कैसे आपसी व्यवहार भी व्याधि व विकार न बनें?

अंत में......हसन जमाल भाई, ओबामा पर सवाल को इस नज़र से भी देखें कि ओबामा कितना इस्लाम और अफ़्रीक़ा से भी जुड़ा हुआ है, फिर भी अमेरिका का राष्ट्रपति बन जाए, ऐसा कमाल किसी इस्लामी देश में क्यों नहीं हो सकता? कोई डिज़र्व तो करे, ओबामा व अमेरिका जैसे? और इक़बाल के *'सारे जहां से अच्छा हिन्दोस्तां हमारा'* की शान में अमेरिकी राष्ट्रपति बुश ने जब कहा 'मैं ऐसे देश की यात्रा पर जा रहा हूं जहां अस्सी प्रतिशत जनसंख्या हिन्दू है, पर एक मुसलमान राष्ट्रपति, एक सिक्ख प्रधानमंत्री और यू.पी.ए. प्रमुख एक विदेशी मूल की ईसाई महिला है' तो इसे 'शेष' में किस नज़र से देखा जाएगा? *(ये मुखौटे हैं, हक़ीक़त नहीं–हसन)*

प्रो. गोपाल भारद्वाज, III-3 विश्वविद्यालय मार्ग, जोधपुर-342011 (राजस्थान)

'शेष' का बेचैनी से इंतिज़ार रहता है. जब कभी आने में देर हो जाती है, तो फ़िक्र पैदा होती है. हस्बे-मामूल जनवरी-मार्च, 51 अंक मिला. अपने अग्रलेख में, हमेशा की तरह, आपने तेज़तर्रार और साफ़गो लहजे में अनेक विषयों और व्यक्तियों के पर्दे फ़ाश किये हैं, अधिकांश रूप में आपसे इत्तिफ़ाक़ रखता हूं. सिर्फ़ इण्टरनेट के बारे में इतना कहना चाहूँगा कि नए ज़माने के बदलते हुए माहौल में नई तकनीकी ने जन्म लिया है. आज की ज़रूरतों के मुताबिक़ टेलीफ़ोन और टेलीग्राम के स्थान पर फ़ैक्स आ गया है. ज़ाहिर है कि हमारे जैसे लोग, जो पुरानी दुनिया में पले-बढ़े हैं और उस ज़माने में, जब इण्टरनेट का ख़्वाब भी नहीं देखा जाता था, जल्दी उससे न मानूस हैं न अन्तरंग.

कई कहानियां और लेख पसन्द आये. ख़ास तौर से बेदारबख़्त का अपनी किताबों वाला लेख. उसे पढ़कर मुझे भी लगा कि अपनी मृत्यु पूर्व मैं भी अपनी किताबों की वसीयत किसी पुस्तकालय या सुपात्र को कर दूं. कई लेख चीज़ों पर नई

रौशनी डालते हैं जैसे–इंतिज़ार हुसैन का 'हुसैनी ब्राह्मण' और अतहर फ़ारूक़ी की 'रसेल के आग्रह' पर लिखी अपनी जीवनी. फ़हमीदा रियाज़ की 'भारत यात्रा' ने कई ऐसे पहलुओं को रौशन किया, जिनकी या तो हमें जानकारी नहीं है अथवा जानकर भी अनजान बने हुए हैं. राजेश रेड्डी की ग़ज़लें और स्नोवा बार्नो की नज़्म स्तरीय है.

मुझे आपके बारे में यह विशेषता लगी कि आप निरन्तर चर्चा में बने रहना पसन्द करते हैं और रहते भी हैं. जहां आपके कटु आलोचक हैं, वही प्रशंसकों की भी कमी नहीं है. बहरहाल,कई अन्य पत्रिकाओं के ऊपर मैं 'शेष' को तरजीह इसलिए भी देता हूं कि यह एकाकी धारा है जो हिंदी-उर्दू की गंगा-जमुनी तहरीक को गति दे रही है. इस शिद्दत के साथ किसी और ने इस ज़रूरी चीज़ की तरफ़ इस तरह तवज्जोह नहीं दी. इसके अलावा मेरा ख़याल है कि इससे साम्प्रदायिक सद्भाव को भी बहुत सहायता प्राप्त होती है, जो आज के दिन अत्यावश्यक है. मुझे यह भी लगता है कि कभी-कभी आप अपने नुकीले शब्दों के द्वारा लोगों को जल्दी नाराज़ कर लेते हैं. लोग तो आपका बाहरी आचरण देखते हैं. दिल के अन्दर क्या है, इसका पता किसी को कैसे चले?

साहित्यिक पत्रकारिता की दृष्टि से देखा जाय तो 'शेष' कमोबेश एक उम्दा डायजेस्ट की तरह है, जिसमें अनेक स्तरीय पत्र-पत्रिकाओं की छटी हुई सामग्री बहुतायत से उपलब्ध है.

ए.पी. रस्तोगी, प्रभात फ़ार्म्स, खातिमा-262308, ज़िला उधमसिंह नगर (उत्तराखण्ड)

विगत 5 वर्षों से 'शेष' का पाठक रहा हूं, महज़ उर्दू से लगाव के कारण. शेष का इंतिज़ार लाज़िमी है. 'शेष' जनवरी-मार्च 09–'हुसेनी ब्राह्मण' इंतिज़ार हुसेन, अब की बार–फ़हमीदा रियाज़ रिवायत और रिपोर्ताज़) पठनीय के संग ही संग्रहणीय भी हैं. कहानियां–'नादिर सिक्कों का बक्स', 'मुर्ग़ाबी, बत्तख़ और औरत' अपना प्रभाव छोड़ती हैं. राजेश जी की ग़ज़लें उम्दा हैं, 'शेष' मेरे लिए विशेष है. मेरा ख़याल है विशेष-शेष है जमाल साहब. आपकी और राजेन्द्र यादव जी की नोंक-झोंक सोचने को मुद्दे देती है. *(क्या वाक़ई–? मुझे तो लगता है, राजेंद्रजी पगला गए हैं–हसन)*

डॉ. राधेश्याम कर्मा, 124, तिलक पथ, ख़रगौन (म.प्र.)

फ़हमीदा रियाज़ के रिपोर्ताज़ 'अब की बार' इतनी तेज़ धार वाली क़लम और बेबाकी से लिखा गया है, दिल के साथ-साथ दिमाग़ के जाले भी झड़ गए. हाँ, इन्तिज़ार हुसैन के 'हुसेनी ब्राह्मण' पढ़ते ही दिमाग़ को झटका-सा लगा. ऐसा लगा, इस सम्बन्ध में मैं काफ़ी पहले भी पढ़ चुका हूं. काफ़ी दिमाग़ पर ज़ोर डालने पर याद आया कि 'कादम्बिनी' मासिक के अगस्त, 1992 अंक में प्रसिद्ध इतिहास लेखक श्री बाला दूबे का लेख छपा था, 'ब्राह्मण लड़े थे इमाम हुसेन के लिए' चूंकि इसी अंक

में मेरा भी एक आलेख छपा था, इसलिए अंक रिकार्ड में जल्द मिल गया और इस आलेख (बाला दूबे वाला) के कुछ अंश 'हुसेनी ब्रह्मण' की जानकारी में इज़ाफ़े के लिए दे रहा हूं.

...'इराक़ में बसे भारतीय ब्राह्मणों के नगर में जब यह ख़बर पहुंची, तो वे इमाम हुसैन की शहादत का बदला लेने को तत्पर हो गए. महाभारत के युद्ध के पश्चात् जब द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा अपने साथियों के साथ भारत से बाहर निकले, तो यह ब्राह्मण दल इराक़ में बस गया था. दत्त ब्राह्मण इसी क़बीले के हैं. बहुत पहले जब कि कैमल का युद्ध हुआ था, तब हज़रत अली ने दत्त ब्राह्मणों की निडर रेजीमेंट को राज-कोष का भार सौंपा था. कैमल का युद्ध बसरा के पास हुआ था. इसकी पुष्टि अकबर शाह ख़ान नजीबाबादी की 'तारीख़े ताबरी मुक़द्दमा आईने-हक़ीक़तनुमा' और 'रेजल-ए-कश्फ़' से की जा सकती है...'

कर्बला के युद्ध के 6 वर्ष उपरान्त, इमाम हुसैन के अनुयायी मुख़्तार बिन अबी उबैद ने कूफ़ा पर आधिपत्य जमा लिया. दत्त ब्राह्मणों के सरदार राहिब अपनी सेना लेकर मुख़्तार के झण्डे के नीचे आ गये और इमाम हुसैन की शहादत का बदला लेने उससे आ मिले. सैयद ज़मीर हसन काज़मी बतलाते हैं, इमाम हुसैन का बदला लेकर सन् 700 में ये ब्राह्मण वापस भारत आ गये...सबसे पहले दत्त ब्राह्मण ज़िला सियालकोट, पंजाब में बसे. फिर कई परिवार गुरुदासपुर, पुष्कर (राजस्थान), इलाहाबाद और वाराणसी में जम गये...'

सैयद ज़मीर हसन काज़मी कहते हैं कि मुहर्रम के दौरान ये हुसैनी ब्राह्मण एक कविता-गान करते थे, जो उन्हें उनके पूर्वज दे गये थे. यह कविता पंजाबी भाषा में है और इसका सारांश इस प्रकार है : 'सिद्ध भोग दत्त, जिसे सुल्तान की उपाधि दी गई थी, एक रणवीर और रणधीर योद्धा थे. वे संत वाज की संतान थे. वे अरब (इराक़) में बस गये थे और उन्होंने अपना सर हुसैन की ख़ातिर दे दिया था.'

...'वीर दत्त शूरवीरता से लड़े और उन्होंने कूफ़ा का क़िला यज़ीद के गर्वनर अब्दुल्ला 'क़साई' से छीन लिया और क़िले को ध्वस्त कर डाला...इस युद्ध में राहिब दत्त के सातों बेटे वीरगति को प्राप्त हुए, जिन्होंने हुसैन के लिए अपनी क़ुर्बानी दे डाली...'

बहुत बहले दत्त ब्राह्मण मुहर्रम में हिस्सा लिया करते थे, पर अब वे कोई भाग नहीं लेते. दत्त ब्राह्मणों को 'हुसैनी ब्राह्मण' भी कहते हैं. बार-बार उनके इस बिरहा से यही आवाज़ गूंजती है : 'अरे ओ इमाम हुसैन की संतान एवं अनुयायियो, यह तुम्हारा फ़र्ज़ है कि इन दत्त ब्राह्मणों को मत भूलना.'

शराफ़त अली ख़ान, 'शादाब', फाइक़ इन्कलेव, फेज़-II, पीलीभीत बाईपास रोड, डाकघर-यूनिवर्सिटी, बरेली-243006 (उ.प्र.)

'शेष' जनवरी-मार्च 09 के अंक का संग हुआ. 'गुज़ारिश' गोलीनुमा है-'इंटरनेट का जाल और पत्रिकाओं का धमाल.' दहशतगर्दी की गर्द में सभी परेशान हैं. हिन्द-पाक के रहनुमाओं को पता नहीं क्यों सुनाई नहीं देते आतंक में जंग के नगाड़े! सबकी यही गुज़ारिश है कि-'ख़ुदा ख़ैर करे!'

शमीम हनफ़ी के मज़्मून-'अदब में इन्सान दोस्ती का तसव्वुर' एक स्याह हाशिये के साथ-क़ाबिले-ग़ौर है, ख़ास तौर से अदीब इन्सान दोस्ती के लिये. कमलाकान्त त्रिपाठी के लेख के अनुसार यह अनुमान सही लगता है कि 'धार्मिक उन्माद' सारी ख़ुदाई के लिये ख़तरनाक है. धर्म के नाम पर कितने नरसंहार हुए हैं-और हो रहे हैं! क्या यह कोई धर्म है? सारे धर्म मानव-धर्म के लिये हैं. बुद्धिजीवी ऐसे अंधविश्वासी कट्टरता और आतंकवाद के ख़तरों से आगाह करते हुए लोगों में इन्सानी-एकता, दोस्ती, भाईचारा क़ायम करने के लिये क़लम का सदुपयोग करें.

'हुसेनी ब्राह्मणों' के बारे में इन्तिज़ार हुसैन ने दिलचस्प ऐतिहासिक जानकारी दी है कि ये ब्राह्मण कर्बला में इमाम हुसैन के लश्कर में शामिल थे-उनके नाम के आगे 'दत्त' लगाया जाता था, जैसे राहिब दत्त-बहुत बहादुरी से लड़े. राहिब दत्त के सात बेटे लड़ते हुए मारे गए. वो ब्राह्मण फिर कर्बला से अफ़ग़ानिस्तान होते हुए हिंदुस्तान आए. हुसैनी ब्राह्मण राहिबदत्त अपने साथ इमाम हुसैन का बाल लेकर आए, जो कश्मीर में हज़रतबल की इबादतगाह में महफ़ूज़ है.

फ़हमीदा रियाज़ का रिपोर्ताज़ हक़ीक़ी है कि 'भारत में 15 करोड़ मुसलमान रहते हैं, धारे से कटे इन्हें जहालत, दक़ियानूसियत और अपने अन्दर बन्द हो जाने के इस गड्ढे से निकालें-ऐसा गैर मुतवाज़न (असंतुलित) समाज...चल नहीं पाएगा-चलना भी नहीं चाहिए!'

'समकालीन सृजन' के यात्रा अंक की डॉ. सत्यनारायण जी द्वारा लिखी गई समीक्षा में यात्रा करने जैसा आनंद आता है. नर्वदा नदी, मोहनजोदड़ो और हसन जमाल की-'हाजिर हूं ए अल्लाह' की यात्रा-डायरी आदि के बारे में. 'ख़तों में-श्री विश्वनाथ (राजपाल एण्ड सन्स 1590 कश्मीरी गेट, दिल्ली-6) के पत्र में बेबाकी से लिखा है कि संपादकीय 'गुज़ारिश' एक सिरफिरे ज़िद्दी संपादक की कहानी है-जो दो भाषाओं में अर्से से एक पुल बनाने में मशग़ूल है! कृश्नचन्दर की (तीस के क़रीब) रचनाएँ अभी भी पढ़ने को दिल करता है.

कुशलकरण 'सांचीहर', सुनारों का बास, जोधपुर-342 001

सरेवरक़ बड़ा जानदार है. फ़हमीदा रियाज़ का रिपोर्ताज़ और अतहर फ़ारूक़ी की आपबीती ख़ासी लज़ीज़ है. अख़्तर जमाल की कहानी 'मुर्ग़ाबी, बत्तख़ और औरत' नयापन लिये हुए है. डॉ. हसन मंज़र का नॉवेल 'अल-आसिफ़ा' अपनी दिलचस्पियों में लिये हुए चल रहा है. परख में 'यादों की सौग़ात' किताब के एक-एक बाब को

मर्ग़ूब अली साहिब ने अपनी नाक़िदाना निगाह से नवाज़ा है. एक-एक मज़्मून को उजागर किया है और डॉ. फ़राज़ हामिदी को सपाया सरफ़राज़ किया है, मगर वो 214 सफ़्हात की इस किताब के सफ़्हा नं. 104 से आगे नहीं बढ़ पाए. 'फ़िल्मी दुनिया का एक सूफ़ी शाइर–नौशाद' पढ़ने का मजा ही कुछ अलग है. रिफ़अत सरोश और एहसान आवारा का इंतिक़ाल बड़ा ख़ला पैदा करने वाला है.

मुहम्मद हसनैन, रीडर सिविल कोर्ट्स, बहराइच-271801

दो ज़बानों की गंगा-जमुनी किताब बहुत पसन्द आई. इसके मज़्मून बहुत अच्छे हैं. किताब शेष, एक ऐसी ख़ूबसूरत महकती डाली है, जो तरह-तरह के ख़ुशबूदार फूलों से आरास्ता है. पेज़ नं. 118 'वे लड़कियाँ' नग़मा जावेद की आज़ाद नज़्म क़ाबिलेदाद है. 'शेष' से मुता'स्सिर होकर इस दोहे ने जन्म लिया–

कितनी सुन्दर भूल है करले पढ़कर भूल
पन्ना पन्ना शेष का महके जैसे फूल

मुश्ताक़ अहमद अर्श चरखारवी C/o डेडी अकबर नगर, फ़ैज़ाबाद रोड, महानगर, लखनऊ

इसमें कोई दो राय नहीं है कि 'शेष' हिन्दी साहित्य की गिनी-चुनी श्रेष्ठ पत्रिकाओं में से एक है. मौजूदा अंक में ज़ोए.अंसारी द्वारा कृश्नचंदर पर लिखा यादनामा बेहद रोचक और दिलचस्प लगा. अपने प्रिय रचनाकार पर सामग्री पाकर बेहद ख़ुशी हुई. 'रोज़मर्रा दुख की याददाश्तें' फ़िलस्तीनी कवि महमूद दरवेश की डायरी अच्छी लगी. जाने क्यों कुछ अच्छे लोग देखते ही देखते हमसे हमेशा-हमेशा के लिए जुदा हो जाते हैं. डॉ. सत्यनारायण के लिए लिखी गई प्रभात की कविता दिल को छू गई. बहुत प्यारी है यह कविता. अब शेष को मुबारक़बाद, एक बेहद प्यारी और नाज़ुक सी कहानी छापने के लिए. आबिद सुहैल की कहानी 'सफ़िया को गुस्सा क्यों नहीं आता?' बहुत प्यारी और अच्छी कहानी है.

सतीश छिम्पा, वार्ड नं. 3, त्रिमूर्ति मंदिर के पीछे, सूरतगढ़ (राज.) 335 804

शेष का दिसम्बर अंक भेजने के लिए बहुत आभारी हूँ, यह सौभाग्य पन्द्रह रोज़ पहले ही प्राप्त हुआ था, तब मुझे सेक्स का बुखार चढ़ा था. अभी भी स्पष्ट याद है जब पत्रिका प्राप्त की थी, तत्क्षण आवरण पृष्ठों ने (चित्रों ने) एकाग्रता और दिलोदिमाग़ में तेज़ हलचल पैदा कर दी थी. इन चित्रों को अब तक पचासों बार देख चुका हूँ, हर बार मानो ऐसा लग रहा है कि इस चित्र का एक लट्टू मैं भी हूँ. पत्रिका निकालने, उसे ज़िन्दा रखने, प्रबुद्ध पाठक वर्ग तैयार करने का आपका जज़्बा-संघर्ष के लिए मैं क़ैदी आपको एक कड़क सलाम करता हूँ. आपके संपादकीय विषयों से वैचारिक-सैद्धान्तिक घर्षण ध्वनि से स्पंदित हूँ. महमूद दरवेश की डायरी पढ़ते वक़्त

जान पड़ता कि इन शब्दों में हमारा भी जीवन सवार है. डॉ. हसन मंज़र का उपन्यास-अंश 'तूफ़ानी हवा' जो अरब की ज़मीन-हवा-परंपरा-शासन की कहानी है, बड़ा दिलचस्प और झकझोरने वाला रहा. कुछ साल पहले पूर्व साथी सुधीर शर्माजी के पास से 'शेष' का एक अंक देखा था, उसी वक़्त मैं पत्रिका का प्रेमी हो गया था, शायद आपको पत्र भी लिखा था. इस अंक में प्रबुद्ध पाठकों के पत्र पढ़ शेष का अप्रैल-जून अंक पढ़ने को लालायित हुआ हूँ. कृपया यह मेहरबानी भी करें. यहां पर अपने बारे में दो शब्द लिखता हूँ, करीब ग्यारह वर्ष पूर्व यहां गोवा में अफ़ीम की तस्करी करते वक़्त पुलिस के हाथ लग गया था, शेष सज़ा दो वर्ष है. क़रीब नौ वर्ष पूर्व, पूर्व साथी सुधीर शर्माजी के संगत-सहयोग से यहां हिन्दी की प्रमुख पत्रिकाओं से परिचित हुआ, धीरे-धीरे अब पत्र-पत्रिकाओं को छूने देखने-पढ़ने का मनोरोगी हो गया हूँ, स्कूली शिक्षा आठवीं तक ही हो पायी, यह मेरी मस्ती थी. ❑

संजय यादव, क़ैदी नं. 276, सेंट्रल जेल, अग्वाद (गोवा)

फ़ार्म-4

प्रेस तथा पुस्तक पंजीयन अधिनियम की धारा 19 डी के अंतर्गत अपेक्षित 'शेष' नामक पत्रिका से संबंधित स्वामित्व और अन्य बातों का विवरण :

1.	प्रकाशन का स्थान	: पन्ना निवास के सामने, लोहारपुरा, जोधपुर
2.	प्रकाशन की आवर्तता	: त्रैमासिक
3.	मुद्रक का नाम	: यशवंत भंडारी
	क्या भारतीय नागरिक है	: हां
	पता	: न्यू पावर हाउस रोड, जोधपुर
4.	प्रकाशक का नाम	: हसन जमाल
	क्या आप भारतीय नागरीक हैं	: हां
	पता	: पन्ना निवास के सामने, लोहारपुरा, जोधपुर
5.	सम्पादक का नाम	: हसन जमाल
	क्या आप भारतीय नागरिक हैं	: हां
	पता	: पन्ना निवास के सामने, लोहारपुरा, जोधपुर
6.	उन व्यक्तियों के नाम और पते, जो पत्रिका के मालिक और कुल प्रदत्त पूंजी के एक-एक प्रतिशत से अधिक के हिस्सेदार या भागीदार हैं	: हसन जमाल, पन्ना निवास के सामने, लोहारपुरा, जोधपुर (राज.)

मैं, हसन जमाल, एतद् द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार उपरोक्त विवरण सही हैं.

—हसन जमाल

किताबों के लिए शुक्रिया

1. **निमाड़ी** (लघु कथाएं) अनु. जगदीश जोशीला/नवीन प्रकाशन, खरगौन।
2. **ख़ुदा की देन** (ल.क.)/तारिक़ असलम/लेखनी प्रकाशन, पटना।
3. **कहो न राघव** (प्रबंध-काव्य)/देवदत्त देव, टैगोर प्रकाशन, हिसार।
4. **बही खाता** (काव्य)/प्रवीणकुमार फ़क़ीर, वर्मा प्रकाशन, हांसी।
5. **शाख़े-गुल** (शाइरी-उर्दू)/शैख़ मु. ज़ुल्क़द्र, सहारनपुर।
6. **अनुकथन** (विविध)/श्याम सुन्दर निगम, कानपुर।
7. **तत्वज्ञान** की मंज़िल/शशिकांत झा, महागामा (झारखण्ड)।
8. **लयान्तरा** (काव्य)/ नीलमेंदु सागर, इलावत प्रकाशन, दिल्ली।
9. **ख़ाली आस्मान** (कथा)/ देवेन्द्रकुमार मिश्रा, कीर्ति प्रकाशन, नागपुर।
10. **बदलते रंग** (कथा)/देवेन्द्रकमुार मिश्रा, कीर्ति प्रकाशन, नागपुर।
11. **मौसम बदल रहा है** (ग़ज़लें)/फ़े. सीन. एजाज़, इन्शा पब्लिकेशन, कोलकाता।
12. **ऊंचे मकानों के क़रीब** (ग़ज़लें-उर्दू)/फ़े. सीन. एजाज़, इन्शा पब्लिकेशन, कोलकाता।
13. **शहर परी तिम्साल** (सफ़रनामा-उर्दू)/नईमा ज़ियाउद्दीन, वेलकम बुक पोर्ट, कराची।
14. **ईजादे-ख़याल** (अफ़साने-उर्दू)/ अनवर शैख़।
15. **एक शब्द का जीवन** (अफ़साने-उर्दू)/नईमा ज़ियाउद्दीन।
16. **मुन्अकिस** (अंग्रेज़ी काव्य का उर्दू तर्जुमा)/फ़े. सीन. एजाज़, इन्शा पब्लिकेशन।
17. **नज़्में ग़ज़लें-गर्द आलूद** (उर्दू)/डॉ. सादिक़, दिल्ली।
18. **कहानी कोई सुनाओ मताशा** (उर्दू नॉवेल)/डॉ. सादिक़ा नवाब सहर।
19. **ज़िंदगी के काग़ज़ पर** (काव्य)/ रंजना जायसवाल, शिल्पायन, दिल्ली।
20. **मेरा निर्णय** (उपन्यास)/अभिमन्यु अनत/भारतीय ज्ञानपीठ।
21. **नया जन्म** (उपन्यास)/सन्तोखसिंह धीर, अनु. घनश्याम रंजन/भारतीय ज्ञानपीठ।
22. **बच्चन के साथ** (संस्मरण)/अजित कुमार/भारतीय ज्ञानपीठ।
23. **घोड़ा एक पैर** (कथा)/दीपक शर्मा/भारतीय ज्ञानपीठ।
24. **अलग-अलग दीवारें** (कथा)/सुमतिलाल सक्सेना/भारतीय ज्ञानपीठ।
25. **कित्ता पानी** (कथा)/अनिता गोपेश/भारतीय ज्ञानपीठ।
26. **अकथ** (कथा)/ रणविजयसिंह सत्यकेतु/भारतीय ज्ञानपीठ।
27. **मुन्ना बैंड वाले उस्ताद** (कथा)/शिवदयाल/भारतीय ज्ञानपीठ।
28. **सौरी की कहानियां**/नवीन कुमार नैथानी/भारतीय ज्ञानपीठ।
29. **कैरियर, गर्ल फ्रेण्ड और विद्रोह** (कथा)/अनुज/भारतीय ज्ञानपीठ।

